

---

# भारतीय समाज

---

समाज क्या है?

परम्परागत भारतीय समाज की विशिष्ट विशेषताएँ  
समकालीन भारतीय समाज की विशेषताएँ  
भारतीय सामाजिक संस्थाएँ

# 1. भारतीय समाज

## समाज क्या है?

विभिन्न व्यक्तियों के बीच के संबंध के योग को समाज कहा जा सकता है। सामान्य अर्थों में समाज विभिन्न व्यक्तियों के एकत्रण है। ये मानसिक रचनाएँ जिसको हम दैनिक जीवन में महसूस तो करते हैं लेकिन देख नहीं सकते। यह संरचना सामाजिक संबंधों का संजाल है, जो आपस में संबंधित वर्गों और समुदायों एवं सामाजिक संस्थाओं और संबंधों के बने हुए जाल है।

प्रत्येक समाज की अपनी एक विशिष्ट संरचना होती है जो उसकी विभिन्न परम्पराओं में निहित होती हैं। परम्पराएँ विचार करने, अनुभूति करने और व्यवहार करने के वे प्रतिमान हैं, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हुए समाज की विरासत को प्रकट करते हैं। इसलिए किसी भी समाज का अध्ययन उसकी संरचनात्मक विशेषताओं और प्रमुख परम्पराओं के आधार पर ही किया जा सकता है। परम्पराओं का अध्ययन समाज की संस्कृति से जुड़ा होता है। संस्कृति किसी भी देश और समाज की आत्मा होती है। इसके माध्यम से हम उस समाज के जीवन की सामूहिक एवं अच्छी क्रियाओं को जान पाते हैं और यही क्रियाएँ सामाजिक जीवन की नींव बनती हैं जिस पर किसी समाज की संरचना निर्मित होती है। कोई भी संस्कृति मानव जीवन के उन गुणों की सूचक होती है। जिनके आधार पर वह समूह एक विशिष्ट समूह बन जाता है। और अन्य मानव समूहों से अलग देखा तथा समझा जा सकता है। परिस्थितियाँ मानव की जीवन-यापन की पद्धतियों और स्वभाव में अन्तर उत्पन्न करती हैं और इसी के आधार पर एक संरचना दूसरों से अलग हो जाती है। भारतीय समाज भी विश्व के अन्य देशों की संरचनाओं व संस्कृतियों से, मौलिक रूप से आध्यात्मिक उद्देश्यों के कारण, अलग है।

भारतीय समाज एक अति प्राचीन समाज है। इतिहासकारों ने इस समाज को लगभग पिछले 5000 वर्षों का इतिहास लिपिबद्ध किया है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय समाज को हम चार कालों में विभाजित कर सकते हैं।-**प्राचीन काल** (लगभग 3000 ईसा पूर्व से 700 ई. तक), **मध्यकाल** (701 से 1750 ई. तक), **आधुनिक काल** (1751 से 1947 ई. तक) एवं **समकालीन काल** (1947 ई. से आज तक)। यह काल-विभाजन विश्लेषण की सरलता की दृष्टि से किया गया है। अन्यथा काल-प्रवाह को किसी भी तरह निश्चित अवधियों में नहीं बांटा जा सकता, क्योंकि प्रत्येक युग में पिछले युग के तत्व भी सम्मिलित होते हैं और यह भावी युग की संभावनाओं को अपने में समाए होता है।

प्राचीन भारत का लगभग 4000 वर्ष का इतिहास एक दीर्घकालीन सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया को प्रकट करता है जिसमें भारतीय समाज की मूल परम्पराएँ पूर्ण से विकसित हुई। वैदिक संस्कृति के इसी युग में भारतीय सामाजिक संरचना की संस्थागत आधारशिलाएँ एवं वैचारिक मान्यताएँ भी विकसित हुई। वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, जाति व्यवस्था, पितृसत्ता, लिंग विभेदीकरण तथा ग्राम प्रधानता भारतीय सामाजिक संरचना की प्रमुख संस्थागत आधारशिलाएँ हैं। धर्म, कर्म, पुर्नजन्म, पुरुषार्थ तथा संसारेतर विश्व इसकी प्रमुख संस्थागत आधारशिलाएँ हैं। मध्यकाल तथा आधुनिक काल में इन संस्थागत आधारशिलाओं में काफी परिवर्तन हुआ है। परन्तु इनका महत्व, किसी-न-किसी रूप में, समकालीन भारतीय समाज में भी पाया जाता है।

इससे पूर्व कि परम्परागत भारतीय समाज के विशिष्ट लक्षणों का वर्णन किया जाए, यहां यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि भारत की भौगोलिक परिस्थिति ने इतिहास के निर्माण में निर्णायक भूमिका निभाई है। **के.एम.पाणिक्कर** के शब्दों में “भारत के भूगोल, इसके प्राकृतिक संकुल, इसके पर्वतों और नदियों ने किसी अन्य देश की अपेक्षा भारत के इतिहास को कहीं अधिक मात्रा में प्रभावित किया है।” उत्तर में अभेद्य हिमालय की ऊँची पर्वतमालाएँ इसकी प्रहरी रही हैं। जो इसे एशिया महाद्वीप से पृथक् करती हैं। दक्षिण में एक पठारी हिस्सा है जो तीन तरफ से हिन्द महासागर से घिरा हुआ है। पश्चिम में अरब सागर एवं पूर्व में बंगाल की खाड़ी के नाम से हिन्द महासागर से घिरा हुआ है। पश्चिम में अरब सागर एवं पूर्व में बंगाल की खाड़ी के नाम से यही महासागर भारत के समुद्रीय महत्व को अति प्राचीन काल से बनाए हुए हैं। इस भाँति, प्रारम्भिक काल से ही भारत एक पृथक् भू-भाग रहा है जिसने उसके निजी जीवन एवं सभ्यता के विकास में बहुत योगदान दिया है। भारत का विशाल आकार इसे एक उपमहाद्वीप की संज्ञा दिए जाने को तत्क्रसंगत बनाता है। इसी प्रकार, भारतीय उपमहाद्वीप की प्राकृतिक विविधता ने भी भारतीय समाज के निर्माण में अपनी भूमिका निभाई है। प्रत्येक प्रकार की जलवायु के दर्शन यहां होते हैं। राजपूताना के तपते हुए रेगिस्तान, हिमालय की सदा बर्फ से ढकी रहने वाली उच्च चोटियाँ, गंगा-यमुना का बहुत बड़ा मैदान, बंगाल और मालाबार की ट्रोपिकल जलवायु एवं दक्षिणी पठार की सूखी पहाडियों वाली भूमि ने इसे सामाजिक विविधता प्रदान की है। मूल रूप से भारतीय मनीषी भारत की दो देशों के रूप में कल्पना करते थे-एक उत्तरी भारत जिसे **आर्यावर्त** कहा जाता था और दूसरा विन्ध्याचल पर्वत से पार **दक्षिणा पथ** कहलाता था। बाद में अगस्त्य ऋषि ने विन्ध्याचल को पार किया और पूरे दक्षिणा पथ को आर्य संस्कृति के साथ बांधने का प्रयास किया। राम का वनगमन भी इस सांस्कृतिक एकीकरण का प्रयास कहा जा सकता है। तभी से हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक सम्पूर्ण भारत की अवधारणा भारतीयों के जनमानस में सदा से रही है।

## परम्परागत भारतीय समाज की विशिष्ट विशेषताएँ

प्रत्येक समाज की अपनी एक विशिष्ट संरचना होती है जो उसकी विभिन्न परम्पराओं में निहित होती है। परम्पराएँ विचार करने, अनुभूति करने और व्यवहार करने के वे प्रतिमान हैं, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हुए समाज की विरासत को प्रकट करते हैं। इसलिए किसी भी समाज का अध्ययन उसकी संरचनात्मक विशेषताओं और प्रमुख परम्पराओं के आधार पर ही किया जा सकता है। परम्पराओं का अध्ययन समाज की संस्कृति से जुड़ा होता है। संस्कृति किसी भी देश और समाज की आत्मा होती है। इसके माध्यम से हम उस समाज के जीवन की सामूहिक एवं अच्छी क्रियाओं को जान पाते हैं और यही क्रियाएँ सामाजिक जीवन की नींव बनती हैं जिस पर किसी समाज की संरचना निर्मित होती है। कोई भी संस्कृति मानव जीवन के उन गुणों की सूचक होती है। जिनके आधार पर वह समूह एक विशिष्ट समूह बन जाता है। और अन्य मानव समूहों से अलग देखा तथा समझा जा सकता है। परिस्थितियाँ मानव की जीवन-यापन की पद्धतियों और स्वभाव में अन्तर उत्पन्न करती हैं और इसी के आधार पर एक संरचना दूसरों से अलग हो जाती है। भारतीय समाज भी विश्व के अन्य देशों की संरचनाओं व संस्कृतियों से, मौलिक रूप से आध्यात्मिक उद्देश्यों के कारण, अलग है।

भारतीय समाज के प्रमुख आधारों को जब हम देखते हैं जिन पर यह विशाल समाज और संस्कृति टिकी है, तो हमारा ध्यान प्रमुख रूप से दो बातों पर जाता है—**प्रथम**, व्यक्ति और समाज का संतुलित समन्वय (जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों के कर्तव्य निहित हैं), एवं **दूसरा**, विश्व-बन्धुत्व की भावना और उसका प्रसार जिसके कारण सांस्कृतिक समन्वय हो पाया है। भारतीय समाज का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने इसकी प्रमुख संरचनात्मक विशेषताएँ खोजने का प्रयास किया है। **एम. एन. श्रीनिवासन** ने भारतीय सामाजिक संरचना की प्रमुख विशेषता इसकी सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता को बताया है। **ड्यूमो** ने श्रेणीबद्धता को भारतीय समाज का प्रमुख लक्षण माना है। उनके अनुसार इस समाज को वर्ण और जाति के ऊँचे-नीचे श्रेणीबद्ध-क्रम सोपान के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। **योगेन्द्र सिंह** ने भारतीय समाज के चार प्रमुख संरचनात्मक व परम्परागत लक्षण बताए हैं—श्रेणीबद्धता, समग्रता, निरन्तरता तथा लैकिकता। **मैण्डलबाम** ने भारतीय समाज को समझने के लिए दो अवधारणाओं को इसकी कुंजी के समान माना और वे हैं—जाति तथा धर्म। इन्हीं सब विद्वानों से प्रेरणा लेते हुए हम भारतीय सामाजिक संरचना का एक संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना चाहेंगे।

भारतीय समाज विश्व के प्राचीनतम जीवन्त समाजों में से एक है और इसका प्रारंभिक बिन्दू हिन्दू सामाजिक संरचना रहा है। बाद में भी यदि हम इसकी ऐतिहासिक गत्यात्मकता को देखें तो प्रमुख सन्दर्भ बिन्दू में हिन्दू सामाजिक संरचना ही आती है। वस्तुतः किसी भी समाज की संरचना के आधारों को उनकी परम्परा की दृष्टि से गिन पाना कठिन होता है क्योंकि परम्पराएँ तो सामाजिक जीवन के हर पक्ष (चाहे वह सामाजिक, दार्शनिक, नैतिक, शैक्षिक, धार्मिक, कलात्मक कोई भी क्यों न हो) से संबंधित होती हैं। फिर भारतीय सामाजिक संरचना के लिए तो यह बात और भी तीव्रता से लागू होती है क्योंकि इसमें केवल प्राचीनता ही नहीं वरन् निरन्तरता भी बनी हुई है। चूँकि हमारा उद्देश्य समाजशास्त्रीय दृष्टि से भारतीय सामाजिक संरचना के परम्परागत प्रमुख आधारों, लक्षणों या विशेषताओं का चयन करना है, इसलिए उन्हें प्रमुखतः निम्नलिखित रूपों में बताया जा सकता है—

1. **प्राचीनता:**— विश्व की अन्य संरचनाओं की तुलना में भारतीय संरचना बड़ी प्राचीन है। इसके मौलिक सिद्धान्त आज भी वही हैं जो प्राचीन काल में थे। अन्य संस्कृतियों का इस पर जो भी प्रभाव पड़ा है। उससे यह और भी समृद्ध हुई है। इसने प्रायः संसार की सभी संस्कृतियों का उत्थान एवं पतन देखा है। हजारों वर्ष पहले की बातें आज भी भारत में वैदिक धर्म का प्रचलन है तथा जाति व्यवस्था एवं संयुक्त परिवार प्रणाली की प्रधानता है। अतः भारतीय संस्कृति एक प्राचीन संस्कृति कही जा सकती है जिसका अतीत आज भी जीवित है।
2. **स्थायित्व:**— अत्यधिक प्राचीन होते हुए भारतीय सामाजिक संरचना आज भी जीवित है और निरन्तर पल्लवित हो रही है। इसके सिद्धान्त आज भी उतने ही क्रियाशील हैं जितने प्रारम्भ में थे। आज जबकि उसकी समकालीन संस्कृतियाँ खण्डहरों के रूप में हैं, यह अनेक सामाजिक परिवर्तनों के साथ स्वयं भी बदलती गई है परन्तु समाप्त नहीं हुई अपितु आज तक जीवित है। सामाजिक और आर्थिक जीवन में महान् परिवर्तनों के बाद भी, इसके मौलिक सिद्धान्त आज भी वही हैं और पूजनीय हैं, इसकी परम्पराएँ वही हैं और आज भी यह निर्माण की दशा में हैं। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध अमेरिकी विद्वान् विलड्यूरेण्ड ने कहा है कि यहाँ मोहनजोदड़ो से गांधी, टैगोर तक उन्नति और सभ्यता का शानदार सिलसिला जारी है। कोई भी विद्वान मिस्त्र, बेबीलोन और सीरिया की संस्कृति की तरह इसके इतिहास को समाप्त नहीं कर सकता क्योंकि यह अब भी निर्माण की अवस्था में है।

3. **सहिष्णुता:-** भारतीय सामाजिक संरचना में सहिष्णुता का गुण पाया जाता है अर्थात् यह सभी संस्कृतियों के गुणों को समय और आवश्यकतानुसार आत्मसात करती रही है। इसका सबसे प्राचीन उल्लेख 'ऋग्वेद' में किया गया है, "एव सत् विप्रा बहुधा वदन्ति" अर्थात् एक ही परमात्मा का ज्ञानीजन अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं। 'गीता' में भी भगवान श्रीकृष्ण ने ऐसा ही विचार व्यक्त किया है कि अन्य देवताओं की श्रद्धापूर्वक पूजा करने वाले मेरी ही पूजा करते हैं। इसके विपरीत, अन्य संस्कृतियों में ऐसे भावों का अभाव पाया जाता है। भारतीय दर्शन इस बात पर बल देता है कि ईश्वर अव्यक्त और सर्वशक्तिमान हैं। विभिन्न उपासनाएं और विचार उस तक पहुंचने के विविध मार्ग-मात्र हैं। इस धारणा का प्रतिफल यह है कि भारतीय सभी धर्म और संस्कृतियों से प्रेम करते रहे हैं, उनसे सम्बन्धित होते रहे हैं। यहां हिन्दू, सिक्ख, मुस्लिम, ईसाई, जैन, बौद्ध सभी धर्मों के लोग निवास करते हैं तथा उनमें एक-दूसरे के प्रति कठोरता या द्वेष भाव नहीं पाए जाते हैं। इस सहिष्णुता ने इस संस्कृति को सदैव जीवित रखा है और निरन्तरता प्रदान की है।
4. **अनुकूलनशीलता एवं ग्रहणशीलता:-** समय, देश और परिस्थितियों के अनुसार बदलने की प्रक्रिया को अनुकूलनशीलता कहते हैं। किसी भी संस्कृति के दीर्घ जीवन के लिए यह बहुत आवश्यक तत्व होता है। शायद विश्व की बहुत सी संस्कृतियां इसलिए समाप्त हो गई कि वे समय के अनुसार अपने को नहीं ढाल सकीं। यदि वैदिक काल से आधुनिक काल तक हम अपनी संस्कृति का अवलोकन करें तो पाते हैं कि हमारी अनेक क्रियाएं बदल गई हैं पर हमारे आदर्शों, संस्कारों, रूढ़ियों और परम्पराओं में बदलाव अधिक नहीं आया है। वे आज भी वहीं हैं। हाँ, हमारा भौतिक दृष्टिकोण बहुत बदला है। बहुत-सी संस्कृतियों से हमारा सम्पर्क भी हुआ है, पर हमारी संस्कृति समाप्त नहीं हो सकी है वरन् उसने दूसरी संस्कृतियों को अपने में आत्मसात कर लिया है। इसी अनुकूलन क्षमता एवं समन्वयता के कारण हमारी संस्कृति आज भी जीवित है। भारतीयों की यह विशेषता रही है कि वे अपनी परम्परा के मौलिक और सार तत्व को बनाए रखते हुए उसे नया आकार-प्रकार प्रदान कर देते हैं। उदाहरणार्थ-भारतीयों ने व्रत-उपवास बनाए रखे परन्तु इन्हें नया अर्थ दे दिया जैसे-स्वास्थ्य के लिए आवश्यक एवं पेट-सफाई के लिए औषधि के रूप मानकर। यह निरन्तरता और परिवर्तन का बड़ा स्वस्थ समन्वय है।
- ग्रहणशीलता भारतीय सामाजिक संरचना की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। किसी भी संस्कृति का दीर्घ जीवन इस बात पर निर्भर करता है कि आकस्मिक रूप से अन्य संस्कृतियों के सम्पर्क में आने पर उनकी अच्छाइयों को ग्रहण कर सके। भारतीय वर्ष में सदा से ही विदेशी संस्कृतियां आक्रमण करती रही हैं, पर भारतीय संस्कृति की पाचन शक्ति बड़ी विशाल रही है। उसका यह लचीलापन है कि नीग्रों से हूणों तक सभी प्रजातियां और संस्कृतियां यहां खप गई। इस विशेषता को पाश्चात्य विद्वान् बड़े आश्चर्य से देखते हैं। **डाइबेल** ने लिखा है कि भारतीय संस्कृति महासमुद्र के समान है जिसमें अनेक नदियां आकर मिलती हैं। इसी प्रकार, **स्मिथ** का कहना है कि सभी जातियों ने भारतीय संस्कृति के सामने घुटने टेक दिए और बड़ी शीघ्रता से वे हिन्दुत्व में विलीन हो गई। **"ई.एम.जोड** ने भी इस विशेषता की ओर संकेत करते हुए कहा है कि भारतवर्ष अपने यहां की विभिन्न संस्कृतियों के बीच सदैव एकता या मेल बैठाता रहा है और सभी प्रकार की विविधताओं के बीच एकता बनाए रखने की उसकी शक्ति और योग्यता श्रेष्ठ रही है। इस ग्रहणशीलता के कारण ही भारतीय संस्कृति में जो विश्वसनीयता आ गई है वह संसार के लिए वरदान है और सभी उसके प्रशंसक हैं। हम सदैव विभिन्न संस्कृतियों के गुणों को अपनाते रहे हैं। **"जियो और जीने दो"** भारतीय संस्कृति की आत्मा है।
5. **सर्वांगीणता:-** विशद् रूप से यदि हम अपनी सामाजिक संरचना का अवलोकन करें तो पाते हैं कि वह जीवन के किसी पहलू को लेकर नहीं चलती वरन् यह जीवन के सभी पक्षों से संबंधित है। भारतीय संस्कृति यह मानकर चलती है कि मानव का जीवन उद्देश्यपूर्ण है और उसका आशय ऐच्छिक लौकिक उन्नति करना है। सम्पूर्ण मानव जीवन को चार प्रमुख भागों में विभक्त किया जा सकता है-शारीरिक, मानसिक, आत्मिक और भावात्मक। भारतीय संस्कृति मनुष्य के सभी पक्षों के सन्तुलित विकास का प्रयास करती है, जबकि अन्य संस्कृतियां एकांगी हैं जैसे-पाश्चात्य संस्कृति केवल भौतिकता को प्राथमिकता देती है। अतः हम यह कह सकते हैं कि हमारी संस्कृति जीवन और समाज के सर्वांगीण विकास पर बल देती है। भारतीय समाज एवं संस्कृति की एक विशेषता यह है कि इसका संबंध किसी एक जाति, वर्ण, धर्म या किसी व्यक्ति विशेष से नहीं होकर समाज के सभी पक्षों से है और इसके निर्माण में राजा, किसान, मजदूर, शिक्षित, शूद्र, ब्राह्मण आदि सभी का योगदान रहा है। भारतीय संस्कृति में कहा गया है 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' अर्थात् सभी सुखी हों।

6. **आशावादी प्रकृति:-** भारतीय संस्कृति में जिन सिद्धान्तों का समावेश है वे वैज्ञानिक भी हैं और आशा की भावनाओं से परिपूर्ण भी। किसी भी समाज का अस्तित्व तब तक रह पाता है जब तक उसकी इकाइयां कर्तव्य करती रहें। कर्म के सिद्धान्त को हमारे यहां सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की गई है अर्थात् प्रतिफल इच्छित न भी मिले तो भी व्यक्ति को कर्म करना चाहिए। इस प्रकार, यह व्यक्ति के मन में कर्म की प्रेरणा देता है और साथ ही इसमें भाग्यवाद का सिद्धान्त भी प्रचलित है। इसी से व्यक्ति अच्छाई और बुराई को भाग्य मनता है और अधिक उत्साह से कर्तव्य सम्पादन में लग जाता है। उसे कठिन-से-कठिन परिस्थिति में भी निराशा नहीं घेर पाती। इस आशावादी दृष्टिकोण के कारण ही भारतीय संस्कृति सदैव जीवित रह पाई है।
7. **धर्म की अवधारणा:-** भारतीय सामाजिक संरचना में 'धर्म' शब्द केन्द्रीय स्थान रखता है। यह एक विशिष्ट अर्थ वाला पद है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से धर्म के तात्पर्य को दो अर्थों में स्पष्ट किया जा सकता है—**एक**, इसका वैचारिक-दार्शनिक अर्थ है, तथा **दूसरा**, इसका सामाजिक-नैतिक अर्थ है। वैचारिक दार्शनिक दृष्टि से धर्म इस बात पर बल देता है कि ईश्वर परब्रह्म, निराकार, अजन्मा, अमर, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, इस सृष्टि का रचयिता, भर्ता एवं संहारकर्ता है। धर्म का दूसरा पक्ष सामाजिक-नैतिक है। इस दृष्टि से धर्म व्यक्ति की विशिष्ट सामाजिक प्रस्थिति के अनुसार उसके सामाजिक दायित्वों का निर्धारण करता है। भारतीय समाज के जनजीवन पर वेदों, उपनिषदों, पुराण, महाभारत, रामायण, भागवद् गीता, कुरान एवं बाइबिल का अत्यधिक गहरा प्रभाव है। इन महान ग्रंथों ने यहां के लोगों को आशावादिता, आस्तिकता, त्याग, तप, संयम आदि का पाठ पढ़ाया है। भारत के लोग सूर्योदय से सूर्यास्त तक तथा जन्म मृत्युपर्यन्त अनेक धार्मिक कार्यों की पूर्ति करते हैं।
8. **सामाजिक श्रेणीबद्धता:-** धर्म के बाद भारतीय सामाजिक संरचना का एक अन्य प्रमुख आधार या लक्षण सामाजिक श्रेणीबद्धता है। यह परम्परा भारतीय सामाजिक संरचना को इतना अधिक प्रभावित करती है कि अनेक विद्वानों ने हिन्दू सामाजिक संगठन को विश्व की सर्वाधिक सामाजिक असमता वाली संरचना कहा है। सामाजिक श्रेणीबद्धता मानव समाज का सार्वभौम नियम है। कोई भी मानवीय समाज इससे अछूता नहीं है। श्रेणीबद्धता या असमता के आधार अथवा उनकी कठोरता या उदारता के नियम हर समाज में अलग-अलग हो सकते हैं। भारतीय सामाजिक संरचना में श्रेणीबद्धता के प्रमुख आधार वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था हैं।
- (अ) **वर्ण व्यवस्था-** प्राचीन भारतीय संस्कृति की उल्लेखनीय विशेषता है वर्ण एवं आश्रमों की व्यवस्था। समाज में श्रमविभाजन हेतु चार वर्णों— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्ण की रचना की गयी। ब्राह्मण समाज, बुद्धि और शिक्षा के प्रतीक हैं तो क्षत्रिय, शक्ति के। वैश्य भरण-पोषण एवं अर्थ व्यवस्था का संचालन करते हैं तो शूद्र समाज की सेवा करते हैं।
- वर्ण-व्यवस्था के साथ-साथ प्राचीन मनीषियों ने मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानकर उसका चार आश्रमों— ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास में विभाजन किया था। आश्रमों का उद्देश्य मानव के चार पुरुषार्थों— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की पूर्ति करना है जो कि व्यक्ति का सामाजिक और व्यावहारिक जीवन संभव बनाते हैं। भारतीयों की वर्णाश्रम व्यवस्था विश्व इतिहास को एक अद्वितीय देन है।
- तदनुसार भारतीय सामाजिक संरचना में व्यक्तियों को चार वर्णों में बांटा गया। पहली श्रेणी उन व्यक्तियों की थी जो शुद्ध रूप से सात्विक प्रवृत्ति के थे अर्थात् जिनकी रुचि सभी वस्तुओं और धारणाओं के सम्बन्ध में विशुद्ध सत्य को खोजने में और सत्य के अनुसार आचरण करने की दृढ़ता में थी। ऐसे व्यक्ति ही सत्-चित्-आनन्द कहे गए हैं। वे ही **ब्राह्मण** कहलाए। दूसरी श्रेणी उन व्यक्तियों की थी जिनमें रजो गुण प्रधान था परन्तु सात्विक वृत्ति का अंश भी मौजूद था। वे एक और ऐश्वर्य एवं शक्ति की ओर आकर्षित थे तो दूसरी ओर धर्म की आवाज पर बिना क्षण भर मोह किए अपने प्राणों की बाजी लगाने को भी तत्पर थे। वे ही **क्षत्रिय** कहलाए। तीसरी श्रेणी उन मनुष्यों की बनी जिनमें राजसिक तत्व तो शेष था परन्तु तामसिक वृत्ति का भी मिश्रण हो गया था। वे धन-सम्पदा और ऐश्वर्य को जीवन में प्रधानता देते थे। ये उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यारे थे। वे दान-पुण्य में विश्वास करते थे, परन्तु धनोपार्जन उनके जीवन का लक्ष्य था। ऐसी वृत्ति के मनुष्यों को **वैश्य** वर्ण की संज्ञा दी गई। अन्तिम रूप से ऐसे व्यक्ति शेष रह जाते हैं जो विशुद्ध रूप से तामसिक प्रवृत्ति के थे, जिनकी इस जन्म और शरीर तथा इसके माध्यम से वासनाओं की पूर्ति में ही रुचि थी, 'जो मिल जाए खाओ और मस्त रहो' ही जिनकी प्रेरणा का मूलमंत्र था। वे **शूद्र** श्रेणी में रखे गए।

इस भांति, हम देखते हैं कि वर्ण व्यवस्था श्रम-विभाजन वाली व्यवस्था नहीं है वरन् मनुष्यों के मूल स्वभावों पर उनकी श्रेणीबद्धता है। स्वाभाविक ही है कि जिसकी जैसी रुचि और क्षमता है उसे वैसे ही कार्य करने में अधिक आनन्द आता है, उपलब्धि की अनुमति भी होती है और वह सन्तोष का अनुभव करता है। वर्ण व्यवस्था मनुष्य को इसी प्रकार जीवन व्यतीत करने का अवसर प्रदान करती है।

(ब) **जाति व्यवस्था**—भारतीय सामाजिक श्रेणीबद्धता का दूसरा मौलिक सिद्धान्त जाति व्यवस्था है। जाति व्यक्तियों की एह वह श्रेणी है जिसमें सदस्यता जन्म के आधार पर मिलती है। सामान्यतः जिस जाति में व्यक्ति जन्म लेता है उसी में मृत्युपर्यन्त जीवन व्यतीत करता है। इसके दो अन्य प्रमुख लक्षण और भी हैं—**एक**, यह अन्तर्विवादी होती है अर्थात् व्यक्ति का विवाह अपनी जाति में ही हो सकता है, और **दूसरा**, इसमें सांस्कारिक शुद्धता का विचार लागू होता है। कुछ जातियाँ सांस्कारिक रूप से सबसे शुद्ध हैं, तो कुछ उनसे कम और अन्त में बिल्कुल ही अशुद्ध जातियाँ हैं जिनका स्पर्श भी अन्य जातियों को दूषित कर देता है। जाति व्यवस्था के संबंध में निम्नांकित विशेषताएं ध्यान में रखने योग्य हैं—

- जाति श्रेणीबद्धता का चरम रूप है। न केवल जातियाँ ही एक-दूसरे की तुलना में श्रेणी-सोपान में बंटी हुई हैं वरन् किसी एक जाति में भी उपजातियों के माध्यम से श्रेणीबद्धता दिखाई देती है।
- जाति के सन्दर्भ में प्रदेश का तत्व बहुत महत्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ—उत्तर प्रदेश में पूर्व में कान्यकुब्ज ब्राह्मण श्रेष्ठ माने जाते हैं तो इसी प्रदेश के पश्चिमी क्षेत्र, हरियाणा और पंजाब में गौड ब्राह्मण श्रेष्ठ माने जाते हैं।
- जाति व्यवस्था समाज का खण्डात्मक विभाजन है। प्रत्येक जाति अपने में एक पूर्ण विश्व है। व्यक्ति वहीं जन्म लेता है, विवाह करता है, नातेदारी के संबंधों में बंधता है। और एक दिन उसी में उसका अन्त हो जाता है और जाति के बन्धु बान्धव ही उसका अन्तिम संस्कार कर देते हैं। यह जाति का समानान्तर अथवा क्षैतिज पक्ष है।
- जाति एक जीवन-दर्शन तथा संस्कार भी है। प्रत्येक जाति के पीछे उसके उद्गम की एक पौराणिक गाथा है, उसकी निजी जीवन-शैली है, संस्कार हैं, रोटी-बेटी एवं खान-पान के नियम हैं तथा शुद्धि-अशुद्धि के नियम हैं। सामान्यतः सभी का कठोरता से पालन होता है।
- जाति व्यवस्था व्यवसाय, खान-पान आदि के कुछ विशेषाधिकारों एवं नियोग्यताओं से बंधी हुई है। समकालीन भारत में यह बन्धन शिथिल होते जा रहे हैं।
- जाति व्यवस्था का आशय यह नहीं है कि प्रत्येक जाति का अन्य जातियों से कोई सम्पर्क अथवा कोई अन्तर्क्रिया ही नहीं है। वस्तु स्थिति तो यह रही है कि समाज का जाति रूपी प्रत्येक खण्ड प्रकार्यात्मक रूप में एक-दूसरे से बंधा हुआ रहा है। जजमानी प्रथा के आधार पर जीवन के प्रत्येक विशिष्ट अवसर पर हर जाति को अन्य जातियों का सहारा लेना पड़ता है।
- जाति जन्म से मिलती है इसलिए इसे एक 'बन्धु वर्ग' भी कहा गया है अर्थात् इसमें न तो बाहर से कोई सदस्यता प्राप्त कर सकता है और न कोई अपनी जाति की सदस्यता छोड़कर बाहर हो सकता है।
- वर्ण सिद्धान्त के आधार पर जातियों को दो श्रेणियों में बांटा गया है—प्रथम श्रेणी में द्विज जातियाँ हैं जिनका उपनयन संस्कार होता है तथा जो यज्ञोपवीत धारण करती हैं। इस श्रेणी में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जातियाँ आती हैं। यह माना जाता है कि इन जातियों को दो बार जन्म होता है—एक बार दैहिक जन्म जो माता-पिता के द्वारा होता है और दूसरी बार आध्यात्मिक जन्म जो गुरु के द्वारा होता है जब वह उपनयन संस्कार कराता है। दूसरी श्रेणी में शूद्र जातियाँ रही हैं जिन्हें यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार नहीं था। सबसे अन्त में हम 'अन्यज' जातियों को रख सकते हैं जो वर्ण सिद्धान्त से भ बाहर थीं, जिसका स्पर्श ही नहीं वरन् छाया भी व्यक्ति को दूषित कर देती थी।

- अन्तिम रूप से यह कहा जा सकता है कि जाति व्यवस्था केवल हिन्दू समाज तक ही सीमित नहीं रही वरन् वह आज पूरे भारतीय समाज के लिए प्रासंगिक है। इस्लाम धर्म, मानवों के बीच श्रेणीबद्धता के विरुद्ध है परन्तु भारत में रहने वाले मुसलमान जातियों के रूप में श्रेणीबद्ध हैं। ईसाइयों में भी जाति के तत्व पाए जाते हैं। सिक्ख धर्म भी इससे अछूता नहीं है। भारतीय सामाजिक संगठन के लिए यह कथन पूर्णतः सही है कि, “जाति भारत की वायु में है। जो यहां सांस लेता है, जाति उसमें प्रवेश कर जाती है।” (जाति व्यवस्था के संबंध में विस्तार से अध्ययन सामाजिक संस्थाओं वाले अध्याय में दिया गया है।)

9. **पुरुषार्थ:-** मानव क्रियाएं अधिकांशतः लक्ष्योन्मुख होती हैं। भारतीय सामाजिक संरचना विशेषतः हिन्दू सामाजिक संरचना में परम्परा की दृष्टि से मानव जीवन के चार लक्ष्य बनाए गए हैं **धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष**। धर्म का वर्णन हमने ऊपर किया है। वह तो मानव आचरण की संहिता है। धर्म ही मनुष्य और पशु को पृथक् करने वाला तत्व है। मोक्ष अन्तिम लक्ष्य है जो इस सांसारिक सामाजिक जीवन के उपरान्त प्राप्त होता है। इसलिए अर्थ और काम की व्याख्या करना ही शेष रह जाता है। अर्थ से आशय व्यक्ति की भौतिक क्रियाओं से है जो धन उत्पादन और उपभोग से सम्बन्धित है। व्यक्ति को धन से दूर नहीं भागना है क्योंकि वह साधन के रूप में खुद व्यक्ति एवं समाज का अस्तित्व है। धर्म के लिए आवश्यकता के अनुसार धन का उपार्जन और उपभोग होना चाहिए। इसी भाँति, काम से आशय व्यक्ति की कोमल भावनाओं एवं वासनाओं से है। प्रेम और यौन इसके विषय हैं। ललित कलाओं का जन्म इसकी प्रेरणा से ही होता है। काम एक विस्तृत अवधारणा है जो निश्चित रूप से ‘मैथुन’ तक ही सीमित नहीं है। इस प्रकार, भारतीय सामाजिक संगठन एक समन्वित जीवन-दर्शन से प्रेरित है। भारत में आचार्यों ने धर्म के मार्गदर्शन के लिए धर्मशास्त्र लिखे, अर्थशास्त्र की रचना की, तो काम भी उपेक्षित विषय नहीं रहा है। **महर्षि वात्स्यायन** ने विश्व प्रसिद्ध ‘कामशास्त्र’ की रचना की। जो विद्वान हिन्दू जीवन-दर्शन को इन्द्रियोपरि विषयों से प्रभावित या दूसरी दुनिया से प्रभावित या संसार से पलायनवाद से प्रभावित कहते हैं, वास्तव में वे भारतीय परम्पराओं को गहराई से नहीं जानते। यह संसार से पलायन का दर्शन नहीं है बल्कि समाज में रहकर कर्म करने का दर्शन है। जीवन का कोई भी पक्ष इससे नहीं छूटा। मनुष्य के लिए पुरुषार्थ का यही आदेश है कि वह धर्म का आचरण करे और धर्म के निर्देशन में अर्थ और काम की पूर्ति करके मोक्ष को प्राप्त करे।

इन चार पुरुषार्थों के सन्दर्भ में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि इनमें धर्म और अर्थ साधन मूल्य हैं और काम तथा मोक्ष साध्य। अन्तिम दोनों में भी मोक्ष परम साध्य है। भारतीय सामाजिक संरचना में व्यक्ति के सामान्य और विशिष्ट कर्तव्यों का विधान इन्हीं की प्राप्ति के लिए किया गया है।

10. **आश्रम व्यवस्था:-** आश्रम व्यवस्था भी भारतीय सामाजिक संरचना का एक प्रमुख लक्षण है। आश्रम से आशय किसी विश्राम स्थल या ठहरने की जगह से नहीं है। वास्तव में मानव के समस्त जीवन को चार भागों में विभाजित किया गया है। ये मानव जीवन यात्रा के चार पड़ाव हैं। जीवन कर्म का सतत प्रवाह है। इसलिए इस विभाजन को भी सतत कर्म श्रृंखला के रूप में ही माना जाना चाहिए। आश्रम व्यवस्था के अनुसार मानव जीवन की औसतन सौ वर्ष की अवधि को चार समभागों में बांटा गया है—**ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम एवं सन्यास आश्रम**। ब्रह्मचर्य आश्रम जीवन की तैयारी से संबंधित है। पच्चीस वर्ष की आयु तक व्यक्ति गुरुकुल में संयमित और सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत करता है, शिक्षा-प्रशिक्षा एवं दीक्षा प्राप्त करता है। यह इन्द्रियों पर संयम रखना सीखने का काल है। आगामी जीवन के लिए आवश्यक रूप से ब्रह्मचारी रहकर, व्यक्ति व्यावहारिक जीवन की कुशलता इसी आश्रम में प्राप्त करता है।

गृहस्थ आश्रम 25 वर्ष की आयु के उपरान्त प्रारम्भ होता है। व्यक्ति विवाह संस्कार द्वारा गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है। गृहस्थ आश्रम समाज की आधारशिला है। इसी में व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम की पूर्ति करता है। सन्तानोत्पत्ति द्वारा वह अपने परिवार की निरन्तरता ही बनाए नहीं रखता वरन् समाज के लिए भी नए सदस्यों का सृजन करता है। गृहस्थ के सहारे ही अन्य आश्रम समर्थित होते हैं। गृहस्थ में व्यक्ति तीन ऋणों से उद्धृत होता है। वे ऋण हैं— देव ऋण, गुरु ऋण एवं पितृ ऋण।

आश्रम व्यवस्था के अनुसार तीसरा आश्रम वानप्रस्थ हैं। जीवन के पचास वर्ष बीतने पर गृहस्थी के लिए यह व्यवस्था की गई कि वह वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करे। इसका आशय था कि अब अपना कार्यभार योग्य उत्तराधिकारी के हाथ में सौंपकर गृहस्थ के मुख्य केन्द्र से हट जाए। वास्तव में गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति की क्रियाएं एवं चेष्टाएं बाहर की ओर थीं। वह सांसारिक उपलब्धियों को प्राप्त करने में लगा था अर्थात् वह परावृत्ति के मार्ग पर चल रहा था। अब उसे निवृत्ति के मार्ग पर चलना था अर्थात् अब उसे बाहर से सिमट कर अपने अन्दर आत्मा की ओर अभिमुख होना था, अपने मोह-बन्धनों से छुटकारा पाना था, यश-अपयश से ऊपर उठना था। वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति अपने गांव और शहर की सीमा पार कुटिया बनाकर रहते थे। अब वे पूरे समुदाय से जुड़ जाते थे। अपने जीवन के अच्छे-बुरे अनुभवों से वे समुदाय की युवा पीढ़ी को प्रशिक्षण, सलाह एवं निर्देशन देते थे।

अन्तिम आश्रम संन्यास हैं। जैसा कि इसके नाम से प्रकट होता है, यत तो सत्य की ओर उन्मुख प्रयास हैं। पच्चीस वर्ष वानप्रस्थ के बीत जाने पर व्यक्ति संन्यास आश्रम में प्रवेश करता है। अब निवृत्ति के पथ पर वह पक्का हो चुका होता है। सभी सांसारिक नाते-रिश्ते समाप्त हो चुके होते हैं व्यक्ति की आत्मा इन सभी नाते-रिश्तों के रहस्य को समझ चुकी होती है। संन्यासी का कोई अपना नहीं होता है संन्यासी सबका होता उसके लिए यह विधान है कि वह किसी भी एक स्थान पर दो या तीन दिन से ज्यादा नहीं रुकेगा और बस्ती में नहीं ठहरेगा बल्कि बस्ती से बाहर निवास करेगा। संन्यास आश्रम के द्वारा समाज ऐसे व्यक्तियों की लम्बी पंक्ति तैयार कर देता था जो सारे देश में भ्रमण कर शक्ति के सन्देश को पहुंचाते थे। ये संन्यासी ही भारतीय संस्कृति की सांस्कृतिक एकता के सूत्रधार रहे हैं। जो व्यक्ति हानि-लाभ, जय-विजय, सुख-दुख, यश-अपयश, जीवन-मरण, मिलन-विरह, अपने-पराए के द्वन्द्वों के संघर्ष से मुक्त हो जाता है वही संन्यासी है और वही जीते जी मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है।

11. **कर्म एवं पुनर्जन्म:-** भारतीय सामाजिक संरचना, विशेषतः हिन्दू सामाजिक संरचना में कर्म एवं पुनर्जन्म का भी एक प्रमुख स्थान रहा है। हिन्दुओं में आत्मा को अमर मान लिया गया तथा यह विश्वास किया जाने लगा कि आत्मा शरीर को छोड़ने से पहले ही यह निश्चित कर लेती है कि उसे किस जीवन में प्रवेश करना है। यह प्रवेश व्यक्ति के पूर्वजन्म के कर्मों के अनुरूप निर्धारित होता है। कर्म के सिद्धान्त के अनुसार कर्मों का फल भोगता हुआ असंख्य योनियों से होकर गुजरता है और कर्मों के अनुसार ही शरीर प्राप्त करता है। अतः हिन्दू धर्म व्यक्ति को अच्छे कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। वस्तुतः कर्म एवं पुनर्जन्म के विचार हिन्दुओं के लिए हर युग में प्रेरणा का प्रमुख स्रोत रहे हैं। इनकी आशावादी प्रेरणा ने भारतीय समाज को सदा ही प्रत्येक प्रकार की परिस्थिति में विकास के अवसर प्रदान किए हैं और भाग्यवादी पक्ष ने सामान्य जीवन को संगठित रखने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। कर्म एवं पुनर्जन्म की प्रभावशीलता और व्यापकता इतनी विशाल रही है कि हिन्दू धर्म के कट्टर आलोचक बौद्ध और जैन धर्मों ने भी इन विचारों को स्वीकार किया तथा इन धर्मों में भी इनका उतना ही महत्व है जितना कि हिन्दू धर्म में है।
12. **संस्कार:-** भारतीय सामाजिक संरचना में संस्कारों का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वैदिक युग से ही संस्कारों को महत्वपूर्ण माना गया है और आर्यों की यह आस्था थी कि संस्कारों के उचित सम्पादन द्वारा मनुष्य को प्रताप व तेजस्विता की प्राप्ति होती है। संस्कार से अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के बौद्धिक, मानसिक व वैदिक परिष्कार के लिए किए जाने वाले अनुष्ठान से है। जिससे वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य बन सके। संस्कार वैचारिक दृष्टि से पूर्ण वैज्ञानिक हैं। इनके पीछे ऋषि-मुनियों की अन्तर्दृष्टि, बौद्धिकता तथा अनुभव निहित हैं। यद्यपि संस्कारों का केन्द्र-बिन्दु व्यक्ति होता है, फिर भी संस्कारों में व्यक्ति को समाज व परमब्रह्म से जोड़ा गया है। हिन्दुओं में तो संस्कार गर्भाधान से प्रारम्भ होकर मृत्यु के बाद तक चलते रहते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि संस्कारों से आत्मा या अन्तःकरण शुद्ध होता है। हिन्दुओं के अतिरिक्त, अन्य सभी सम्प्रदायों के भी अपने अलग-अलग संस्कार हैं।
13. **पितृसत्ता:-** भारतीय सामाजिक संरचना मुख्यतः पितृसत्तात्मक संरचना है। यद्यपि यह सत्य है कि अनेक जनजातियों या जातियों में मातृसत्तात्मक व्यवस्था भी पाई जाती है, तथापि भारतीय सामाजिक संरचना के प्रवर्तक, आर्य, प्रमुखतः पितृसत्तात्मक थे और यही नियम मुख्य रूप में आज भी भारतीय सामाजिक संरचना को प्रभावित किए हुए हैं। पितृसत्तात्मक का अर्थ है कि परिवार में पिता की सत्ता होती है, सम्पत्ति भी पिता से पुत्र को जाती है और नाम भी पिता से पुत्र को प्राप्त होता है। 'ऋग्वेद' के श्लोकों में परमात्मा से वीर पुत्रों की प्राप्ति हेतु प्रार्थना पाई जाती है। आज भी अनेक गांवों में बड़ी-बूढ़ी स्त्रियां बहुओं और बेटियों को भी यह आशीर्वाद देती हैं कि वे पुत्रों को जन्म दें। पुत्र ही बुढ़ापे का सहारा होते हैं और पिण्डदान अथवा श्राद्ध कर्म द्वारा पितरों की मुक्ति करते हैं।



पितृसत्ता का नियम ही पुरुष प्रधानता का आधार हैं। अधिकांशतः भारतीय सामाजिक संरचना में स्त्रियों की तुलना में पुरुषों को ऊंचा दर्जा प्राप्त है। 'मनुस्मृति' तो यहां तक कहती है कि नारी को कभी स्वतंत्र जीवन बिताने का निर्णय लेने का अधिकार नहीं है। बाल्यकाल में वह पिता के संरक्षण में रहती है, यौवनकाल में पति के और बुढ़ापे में पुत्र के संरक्षण में जीवन व्यतीत करती है। इस सिद्धान्त के दो व्यावहारिक परिणाम हुए-**पहला**, स्त्री निरन्तर निर्भरता अथवा संरक्षण की स्थिति में हो गई, और **दूसरा**, उसकी कोई निजी अस्मिता नहीं रही। वह अमुक की लड़की अमुक की पत्नी अथवा अमुक की मां के रूप में ही जानी जाती रही। आज के युग में शिक्षित एवं रोजगार में लगी स्त्री अपनी निज की अस्मिता खोजना चाहती है और इसे स्थापित करना चाहती है स्वाभावतः यह पितृसत्ता अथवा पुरुष प्रधानता उसके लिए मानसिक एवं सामाजिक संघर्ष की स्थिति पैदा कर रही है।

पितृसत्तात्मकता का एक और परिणाम भारत में परिवार के संयुक्त स्वरूप में भी प्रकट होता है। संयुक्त परिवार को हिन्दू सामाजिक संगठन की विशेषता माना जाता रहा है। परिवार में सबसे प्रमुख वयोपद्ध व्यक्ति की सत्ता और प्रतिष्ठा सर्वोच्च है, शेष सभी उसके द्वारा एक-दूसरे बंधे रहते हैं परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पितृसत्तात्मकता या संयुक्त परिवार के मूल में सम्पत्ति का अधिकार भी है। भूमि और धन पर निजी सम्पत्ति का अधिकार और उसका पुत्रों को हस्तान्तरण संयुक्त परिवार की आधारशिला को बनाए रहा है। यही कारण है कि शूद्रों में जिनके पास सम्पत्ति या तो थी ही नहीं या न्यूनतम थी, प्रायः एकल परिवार पाए जाते थे। आज भी संयुक्त परिवारों का रूप कृषक परिवारों, व्यावसायिक परिवारों या भूतपूर्व जमींदार अथवा राजसी परिवारों को ही देखने को मिलता है।

14. **लिंग विभेदीकरण:-** भारतीय सामाजिक संरचना का परम्परागत आधार लिंगों के बीच विभेदीकरण भी है। यद्यपि मानव समाज की सार्वभौम और शाश्वत प्रक्रिया दिखाई देती है, तथापि भारतीय समाज में स्त्री और पुरुष के बीच सामाजिक प्रस्थिति और कार्यों का विभाजन अत्यधिक सुस्पष्ट एवं शास्त्रगत है। अति प्राचीन वैदिक काल में स्त्री-पुरुष के बीच इतना सामाजिक भेदभाव नहीं था। स्त्रियों के भी संस्कार होते थे। 'ऋग्वेद' में महिला ऋषियों द्वारा रचित ऋचाएं भी सम्मिलित हैं। वे भी गुरु के आश्रम में वेदाध्ययन करती थी, उनका उपनयन संस्कार भी होता था और वे जीवन भर ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हुए वेदों के अध्ययन में लगी रह सकती थीं। ऐसी महिलाएं ब्रह्मवादिनी कहलाती थीं। वे गुरुकुलों में शिक्षक पद भी ग्रहण कर सकती थी, जहां इन्हें आचार्या के रूप में स्वीकार किया जाता था। परन्तु उत्तर वैदिक काल समाप्त होते-होते उनकी स्थिति में ऐसा परिवर्तन आ गया कि उनका कार्यक्षेत्र बालकों के प्रजनन, लालन-पालन और गृहस्थ के कार्यों तक ही सीमित हो गया। बौद्ध धर्म और जैन धर्म ने ईसा से छठी शताब्दी पूर्व स्त्री को भिक्षुणी के रूप में संघ या मठों में प्रवेश की अनुमति दी थी। बौद्ध और जैन मठ ईसाई धर्म के आधुनिक चर्च के अग्रदूत कहे जा सकते हैं।

पतिव्रत धर्म और पतिव्रता की महिमा हिन्दू सामाजिक संगठन के प्रमुख आधारों में से एक है सीता और सावित्री उसके परम आदर्श हैं। पति कैसा भी क्यों न हो, उसकी मन, वचन और कर्म से सेवा से बढ़कर कोई पुण्य नहीं है। इस प्रकार से लिंग विभेदीकरण के हिन्दू सामाजिक संगठन के लिए परिणाम अच्छे नहीं रहे। स्त्रियां अशिक्षित रह गई और वे अनेक अन्धविश्वासों की शिकार हो गईं। यौन-शुचिता की अवधारणा ने बहुत बाल्यकाल में ही स्त्री के विवाह को प्राथमिकता देने की प्रथा की नींव डाल दी। परिणामतः कच्ची उम्र में ही यौन समागम और प्रजनन ने उनके स्वास्थ्य पर बहुत कुप्रभाव डाला। निजी सम्पत्ति के विचार तथा पतिव्रत धर्म की अवधारणा ने विधवा के पुनर्विवाह पर रोक के नियम को जन्म दिया। विधवा के लिए इतने कठोर जीवन की व्यवस्था की गई कि उसका जीवन जीते जी नरक के समान बन गया। लिंग विभेदीकरण की उपर्युक्त प्रक्रिया का एक परिणाम सती प्रथा तथा दहेज प्रथा का उदय भी था।

इस प्रकार लिंग विभेदीकरण ने भारतीय सामाजिक संरचना की लगभग आधी जनसंख्या को अशिक्षित, कूपमण्डूक, अन्धविश्वासी, अबला व निर्योग्य बना दिया जो कालान्तर में इसकी प्रगति के मार्ग में एक प्रमुख बाधा बन गया।

15. **ग्राम प्रधानता:-** भारतीय सामाजिक संरचना का एक अन्य प्रमुख परम्परागत आधार ग्राम प्रधानता रही है। भारतीय सामाजिक संरचना वस्तुतः ग्रामीण संगठन पर आधारित रही है। ग्रामीण समुदाय का आधार कृषि रहा है और जीवन के अनेक तीव्र त्यौहार कृषि से ही संबंधित हैं। भूमि का महत्व भू-स्वामित्व को सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार बनाता है। इसलिए भारतीय सामाजिक संरचना को तीन स्तरों में समझा जा सकता है—प्रथम, अभिजात संस्कृति को पढ़े-लिखे वर्ग में शास्त्रों पर आधारित संस्कृति रही है, दूसरी, नगरीय संस्कृति जो शास्त्रीय संस्कृति के साथ-साथ कुछ लोक संस्कृति के तत्व भी रखती है और तीसरी, ग्राम संस्कृति अथवा लोक संस्कृति। इसी संस्कृति का हिन्दू समाज में बाहुल्य है।
16. **आध्यात्मवाद:-** धर्म और आध्यात्मिकता भारतीय समाज व संस्कृति की आत्मा है। भारतीय संस्कृति में भौतिक सुख और भोग लिप्सा को कभी भी जीवन का ध्येय नहीं माना गया। यहां आत्मा और ईश्वर के महत्व को स्वीकार किया गया है और शारीरिक सुख के स्थान पर मानसिक एवं आध्यात्मिक आनंद को सर्वोपरि माना गया है। इसमें भोग और त्याग का सुंदर समन्वय पाया जाता है।
17. **विचार और आदर्श:-** भारतीय संस्कृति में कुछ ऐसे तत्व हैं, जो युग युगांतर एक व्यक्ति के अस्तित्व के आधार होते हैं। 'सादा जीवन उच्च विचार' का सिद्धांत अपरिग्रह को श्रेष्ठता प्रदान करता है। इसी प्रकार इस आदर्श और विचारधारा से प्रेरणा प्राप्त करने वाला प्रत्येक प्रणाली विश्व कुटुम्ब का सदस्य होता है। वह विश्व को एकता का पाठ पढ़ाता है तथा सबको एक सूत्र (वसुधैव कुटुम्बकम्) में बांधता है। भारतीय समाज और संस्कृति के ऐसे आदर्श और विचार सदैव एकता को बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं।
18. **पौराणिक गाथाएं एवं प्रतीक:-** भारतीय सामाजिक संरचना के परम्परागत आधारों में अन्तिम आधार पौराणिक गाथाओं एवं प्रतीकों का है। रामायण और महाभारत वे महाकाव्य हैं जो अनेक पौराणिक गाथाओं के आदि-स्रोत हैं। प्रत्येक त्यौहार, व्रत आदि के साथ लोक कथाएं जुड़ी हैं। गांव गांव में उनका प्रसार है। इसी भांति, देवताओं में शिवलिंग, गणेश, शालिग्राम, नृसिंह अवतार एवं अनेक देवियों की मूर्तियां अखिल भारतीय स्तर पर पाई जाती हैं। उनका पूजन त्यौहार के रूप में सार्वजनिक रूप से होता है और इष्टदेव के रूप में परिवारों में भी पूजा होती है। ये देवता व्यक्ति, परिवार और समाज का कल्याण करने वाले हैं तथा दुखों से उनकी रक्षा है। इसी भांति ओम, सातिया, नवग्रह भी भारतीयों के धार्मिक प्रतीक हैं जिनका विशिष्ट अर्थ है सामाजिक प्रतीकों में पुरुष के लिए चन्दन और तिलक तथा नारी के लिए बिन्दी, सिन्दूर, चूड़ियां व बिछूए महत्वपूर्ण प्रतीक हैं।
- जैसा कि हमने पहले भी लिखा है किसी भी सामाजिक संरचना के सम्पूर्ण परम्परागत आधारों, लक्षणों या विशेषताओं की कोई एक सूची तैयार नहीं की जा सकती। भारतीय सामाजिक संरचना जैसे प्राचीन एवं विविधतापूर्ण संगठन के लिए तो यह बात अक्षरशः सत्य है। फिर भी उपर्युक्त आधारों के सन्दर्भ में भारतीय सामाजिक संरचना का अध्ययन किया जा सकता है और इसकी मूल प्रकृति को समझा जा सकता है।

### समकालीन भारतीय समाज की विशेषताएं

परम्परागत भारतीय सामाजिक संरचना का इतिहास एक दीर्घकालीन सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया को प्रकट करता है जिसमें भारतीय समाज की मूल परम्पराएं विकसित हो गईं। परंपरागत भारतीय समाज के इन्हीं लक्षणों का उल्लेख पूर्व टॉपिक में किया गया है, यद्यपि समकालीन भारतीय सामाजिक संरचना में अनेक लक्षण परम्परागत संरचना के किसी-न-किसी रूप में देखे जा सकते हैं। तथापि इसकी अपनी कुछ विशिष्टताएं भी हैं। वस्तुतः समकालीन भारतीय सामाजिक संरचना काफी सीमा तक ब्रिटिश शासन के परिणामस्वरूप हुए परिवर्तनों का प्रतिफल है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय सरकार द्वारा नियोजित सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक न्याय की दिशा में किए गए प्रयासों से भी समकालीन भारतीय सामाजिक संरचना में कुछ नवीन लक्षण विकसित हुए हैं।

समकालीन भारतीय समाज एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है जो अपनी परम्पराओं की सीमाओं के अन्तर्गत आधुनिकीकरण की ओर अग्रसर हो रहा है। एक बार फिर भारतीय आध्यात्मवाद एवं पश्चिमी भौतिकवाद के समन्वय का प्रयोग भारतीय भूमि पर गठित हो रहा है। इसकी सफलता न केवल भारतीय उपमहाद्वीप के लिए वरन् सारे विश्व के लिए महत्वपूर्ण है क्योंकि औद्योगिक भौतिकवाद उस जगह पहुँच गया है जहां विनाश की शक्ति भी अपने चरम पर है। मानव जाति की सुरक्षा आध्यात्मवाद और भौतिकवाद के स्वस्थ संतुलन में ही निहित है।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय समाज में बड़ी तीव्र गति से परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है। समकालीन भारतीय समाज मौलिक परिवर्तनों की चुनौती से गुजर रहा है। एक श्रेणीबद्ध सामाजिक व्यवस्था, जो विषमता और असमता पर आधारित रही है को समाता पर आधारित समाज के रूप में बदलने का कठिन व्रत भारतीय समाज ने लिया है। स्वभावतः संक्रांति काल से उत्पन्न मूल्यों का संघर्ष एवं सम्भ्रान्ति अनेक समस्याओं को जन्म दे रही हैं। समकालीन भारतीय समाज अथवा भारतीय सामाजिक संरचना की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

1. **लौकिकीकरण अथवा धर्मनिरपेक्षीकरण**-समकालीन भारतीय सामाजिक संरचना की प्रमुख विशेषता लौकिकीकरण है। भारत परम्परागत रूप से धर्म की प्रधानता वाला देश है। अंग्रेजी शासनकाल में पश्चिमीकरण एवं आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं के कारण सामाजिक कुरीतियों (जो कि धार्मिक विचारों से संबंधित थीं) जैसे बाल विवाह, सतीप्रथा, मानव बलि, कन्या वध, विधवा पुनर्विवाह का निषेध आदि को समाप्त करने के लिए धार्मिक मान्यताओं की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप एक विरोधी आन्दोलन शुरू हुआ। साथ राजनीतिक जागरूकता तथा विज्ञान के बढ़ते हुए महत्व के कारण भारत में लौकिकीकरण की शुरूआत हुई। यह प्रक्रिया तभी से समाज में निरन्तर होती चली आ रही है।

‘भारत में लौकिकीकरण शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है-प्रथम, सभी धर्मों की समानता के लिए तथा द्वितीय, इसमें निहित विभेदीकरण की प्रक्रिया के लिए, जिसके परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न पक्ष-आर्थिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक तथा नैतिक-एक-दूसरे के मामले में अधिकाधिक सचेत हो जाते हैं। चर्च एवं राज्य में अंतर तथा धर्मनिरपेक्ष राज्य की भारतीय अवधारणा दोनों में ही ऐसे विभेदीकरण के अस्तित्व की स्वीकृति निहित है।

लौकिकीकरण के परिणामस्वरूप भारत में ताकिकता तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास होता है। लौकिकीकरण में बुद्धिवाद अथवा विवेकशीलता को अधिक महत्व दिया जाता है। प्रत्येक घटना की व्याख्या तर्क एवं कार्य-कारण संबंधों के आधार पर की जाती है। रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का स्थान ताकिकता ले लेती है। बुद्धिवाद का लक्ष्य सामाजिक व्यवहारों को तर्क व बुद्धि के सिद्धान्त के अनुसार नियमित करना एवं तर्कहीन बातों को समाप्त करना है। लौकिकीकरण में यह मान्यता भी निहित है कि व्यक्ति को आत्मिक स्वतंत्रता होनी चाहिए अर्थात् उसे किसी भी धर्म को अपनाने की एवं किसी भी धार्मिक संस्कार का सदस्य होने की स्वतंत्रता है तथा राज्य इसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता। इस प्रकार के दृष्टिकोण ने भी भारतीय सामाजिक संरचना को एक नवीन रूप प्रदान किया है।

2. **आधुनिकीकरण**-आधुनिकीकरण समकालीन भारतीय सामाजिक संरचना की दूसरी प्रमुख विशेषता है। भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का प्रारम्भ ब्रिटेन के साथ हमारे सम्पर्कों का परिणाम है। अंग्रेजों द्वारा भारत पर विजय की प्रक्रिया लगभग एक शताब्दी तक चलती रही। स्वाभाविक था कि वे अपने साम्राज्य की स्थापना के लिए और फिर उसे बनाए रखने के लिए कुछ नई तकनीकी और संरचनाओं का भारतीय धरा पर ओरापण करते वही हुआ भी। उत्पादन में नई मशीनी तकनीकी, व्यापार की नई बाजार प्रणाली, यातायात और संचार के साधनों का विकास, कर्मचारीतन्त्र पर आधारित सिविल सेवा का अखिल भारतीय स्वरूप, औपचारिक और लिखित कानून की स्थापना, आधुनिक सैन्य संगठन, संगठित व प्रशिक्षित पृथक न्यायिक व्यवस्था और आधुनिक औपचारिक शिक्षा व्यवस्था वे महत्वपूर्ण कदम हैं जिन्होंने आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार की। यह सच है कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का उद्देश्य भारतीय समाज को उन्नत और आधुनिक बनाना नहीं था। वे तो यह सब उपाय अपने साम्राज्य के हितों की रक्षा के लिए कर रहे थे। इसीलिए उन्होंने भारतीय समाज की प्रमुख सामाजिक एवं धार्मिक परम्पराओं से अपने को तटस्थ रखा और उनमें कम से कम हस्तक्षेप किया। परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज में परम्परा एवं आधुनिकता दो समानान्तर धाराओं के रूप में विद्यमान थीं और जिनमें परस्पर सामंजस्य न हो पाने के कारण विभिन्न समस्याएं उत्पन्न हो रही थी।

अंग्रेजों की इच्छा तथा आशा के विपरीत, शिक्षा तथा सरकारी सेवाओं के नए अवसरों ने भारतीय समाज में एक ऐसे प्रबुद्ध वर्ग को जन्म दिया जो अपने समाज की दीन दशा पर विचार करने के लिए बाध्य हो गया। इसी वर्ग के नेतृत्व में भारत में समाज-सुधार आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द सरस्वती, रानाडे, तिलक, गांधी आदि इसी आन्दोलन से जुड़े कुछ अग्रणी नाम हैं। इस आन्दोलन के अन्तर्गत सती-प्रथा, विधवा-पुनर्विवाह पर रोक नारी अशिक्षा तथा अस्पृश्यता जैसी सामाजिक बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया गया, आधुनिक शिक्षा के प्रसार पर जोर दिया गया था भारतीय इतिहास की उपलब्धियों को जनता के सम्मुख और विश्व के सम्मुख उजागर करने का भी प्रयत्न किया गया। भारतीय समाज सुधार आन्दोलन ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को बल प्रदान किया।

आजादी के बाद आधुनिकीकरण की प्रक्रिया योजनाबद्ध और तीव्र गति से हुई है। जितने परिवर्तन इन लगभग पिछले पचपन वर्षों में हुए हैं उतने परिवर्तन सम्भवत् पांच शताब्दियों में भी नहीं हुए थे। भारतीय संविधान बनाकर और उसे व्यवहार में क्रियान्वित कर भारत ने सर्वप्रथम राजनीतिक आधुनिकीकरण किया। भारतीय जनमानस में कहां तक राजनीतिक आधुनिकीकरण प्रवेश कर सकता है, यह एक वाद-विवाद का विषय है। भारतीय समाज एक बहुलवादी समाज है। भाषा, क्षेत्र, धर्म, जाति एवं प्रथाओं की विविधताओं से भरा समाज आधुनिकीकरण के सामान्य लक्ष्यों की ओर उन्मुख हुआ है। भारत ने यद्यपि पश्चिम को अपना प्रेरणा स्रोत माना है परन्तु आधुनिकीकरण का अपना एक अलग और विशिष्ट मॉडल अपनाया है। प्रमुख मूल्य उन्मूष इस प्रकार हैं। समाजवाद, लौकिकवाद, उद्योगवाद, प्रजातन्त्र, समतावाद एवं व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा मौलिक अधिकार। इनमें से अधिकांश मूल्य धर्म और जाति पर आधारित परम्परागत भारतीय सामाजिक संरचना के विपरीत हैं। इसलिए भारतीय समाज में मूल्य-संघर्ष की स्थिति दिखाई देती है और अनेक विघटनकारी शक्तियों ने सिर उठा रखा है।

आधुनिकीकरण का उपर्युक्त मॉडल राजनीतिक-प्रशासनिक है। राजनेताओं द्वारा इसका प्रारूप और प्रमुख नीतियां निर्धारित की गई हैं। उनके क्रियान्वयन का प्रमुख दायित्व प्रशासकों पर है। सिद्धान्त के रूप में जन सहभागिता को आधुनिकीकरण का प्रमुख अंग माना गया है परन्तु व्यवहार को जन-सहभागिता को प्राथमिकता देने की उपेक्षा होती रही है। शिक्षा को आधुनिकीकरण की एक पूर्व शर्त के रूप में स्वीकार किया गया है। ब्रिटिश राज के दौरान शिक्षा सरकारी नौकरी पाने का सहज साधन बन गई थी। इसलिए उसके साथ उर्ध्वगामी, सामाजिक, गतिशीलता का जुड़ जाना स्वाभाविक था। स्वतंत्र भारत ने निरक्षरता उन्मूलन और सार्वभौमिक शिक्षा के लक्ष्य सामने रखे हैं आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान के अनुसंधान, शिक्षण और प्रशिक्षण के विकास के लिए विशेष उपाय अपनाए गए हैं। परन्तु हम देखते हैं कि योजनाबद्ध प्रयासों के बावजूद भी शिक्षित और अशिक्षित बेरोजगारी का आकार उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। 'गरीबी हटाओ' अभियान चलाए जा रहे हैं परन्तु अमीर और गरीब में खाई और विस्तृत होती जा रही है और गरीबी बढ़ती जा रही है। परन्तु आज भारत निश्चित रूप से परम्परा से आधुनिकता की ओर अग्रसर है।

3. **बढ़ती हुई सामाजिक गतिशीलता**-बढ़ती हुई सामाजिक गतिशीलता समकालीन भारतीय सामाजिक संरचना की एक प्रमुख विशेषता है। एम.एन.श्रीनिवास ने उचित ही लिखा है कि ब्रिटिश पूर्व भारतीय समाज, परम्परागत समाज कहा जाता है जो स्वभाव से हमें स्थिर दिखाई देता है। परन्तु यदि और गहराई से अध्ययन किया जाए तो इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि इस परम्परागत संरचना में भी जातियों के लिए स्थानीय सोपानक्रम में ऊपर या नीचे गतिशीलता करने के अवसर विद्यमान थे। श्रीनिवास ने निम्न जातियों में सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन किया तथा उस प्रक्रिया को, जिसके द्वारा निम्न जातियां जातीय संस्तरण में उच्च स्थान प्राप्त करने का प्रयास करती हैं, 'संस्कृतिकरण' कहा। उन्होंने इस प्रकार की गतिशीलता के प्रमुख आधारों का ही उल्लेख किया है जिनमें से प्रमुख निम्नांकित हैं-

1. पश्चिमी शिक्षा
2. प्रशासन में नौकरियां
3. आमदनी के नगरीय साधन
4. वयस्क मताधिकार
5. पंचायती राज
6. अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए ग्राम पंचायत से लेकर संघीय संसद तक सभी निर्वाचित संगठनों में सुरक्षित स्थान।
7. संचार के साधनों में वृद्धि
8. निम्न जातियों में प्रजातन्त्रीकरण एवं राजनीतिकरण
9. धर्मनिरपेक्षीकरण
10. आधुनिकीकरण
11. निम्न जातियों की आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति में सुधार।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सामाजिक गतिशीलता की गति और भी तीव्र हो गई है। भारत में प्रजातन्त्र की स्थापना, जो समानता, स्वतन्त्रता और सार्वभौमिक मताधिकार पर आधारित है, ने भारतीय समाज के परम्परागत ढांचे में परिवर्तन के द्वार खोल दिए हैं। औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं राजनीतिकरण की प्रक्रियाओं ने सामाजिक गतिशीलता की मात्रा और अवसरों को बढ़ा दिया है। परम्परागत भारतीय समाज में सांस्कारिक प्रस्थिति आर्थिक प्रस्थिति तथा शक्ति प्रस्थिति, समायोजित रूप में थी अर्थात् जो सांस्कारिक दृष्टि से ऊंची प्रस्थिति में था वह आर्थिक और शक्ति की दृष्टि से भी ऊंची प्रस्थिति में था। **योगेन्द्र सिंह** ने सही लिखा है कि सामाजिक विधान, शिक्षा, औद्योगीकरण, जनतन्त्रीकरण, नगरीकरण के प्रभावों से शक्ति, अर्थ और सांस्कारिक उच्चता का यह समयोजन अब टूटने लगा है।

विभिन्न विद्वानों के अध्ययनों ने एक और महत्वपूर्ण सामाजिक गतिशीलता के रूप की ओर ध्यान आकर्षित किया है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में जाति संघों का निर्माण हो रहा है जो सचेतन प्रयासों द्वारा सामूहिक रूप से आरोही गतिशीलता की ओर अग्रसर हैं। जाति संघ राजनीति के साथ गठबंधन द्वारा जातीय हितों की पूर्ति करने में क्रियाशील हैं। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं जातियों के महासंघ भी बन रहे हैं। उनमें कई ऐसी जातियां, जो पहले अलग-अलग थीं, एक ही मंच पर एकत्र हो रही हैं। एम.एन.श्रीनिवास ने उचित ही लिखा है कि भूतकाल में जातियों के एक-दूसरे से अलग होने की प्रक्रिया ज्यादा तीव्र थी और अब एक-दूसरे से जुड़ने की प्रक्रिया तीव्र है।

दुबे के अनुसार स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में तीव्रता से आधुनिकीकरण हुआ है जिसने सामाजिक गतिशीलता को प्रोत्साहन दिया है। नए अमीरों ने अपने रहन-सहन की पद्धति का एक विशिष्ट स्तर प्रदान किया है। मध्यम श्रेणी के लोग इस स्तर को पाने के लिए लालायित रहते हैं जिसने उन्हें कठिन स्थिति में डाल दिया है। विकास योजनाओं का लाभ अधिकतर पहले से समृद्ध व्यक्तियों को ही मिल पाया है तथा बहुत बड़ी संख्या में जरूरतमंद लोग इन योजनाओं से लाभ नहीं उठा सके हैं। गरीब अधिक गरीब और अमीर अधिक अमीर हुए हैं। अतः गरीबी एवं अमीरी में अन्तर बढ़ा है। दुबे के अनुसार, आधुनिकीकरण के परिणामस्वरूप व्यक्तियों में तक, परानुभूति, गतिशीलता एवं सहभागिता आदि की वृद्धि होती है।

**रूडोल्फ** एवं **रूडोल्फ** ने भारत में आधुनिकीकरण के परिणामस्वरूप होने वाली गतिशीलता का विस्तृत अध्ययन किया है। इनके अनुसार भारत में आधुनिकीकरण की नींव अंग्रेजों ने रखी क्योंकि उन्होंने ही भारत को नई अर्थव्यवस्था और राजनैतिक एकता प्रदान की। प्रेस तथा नवीन शिक्षा प्रणाली ने भारत में एक नए शिक्षित वर्ग को जन्म दिया। आवागमन, संचार साधनों, नवीन प्रविधियों आदि ने कृषि उत्पादन में क्रान्ति ला दी तथा भारतीय गांवों, जो परम्परागत रूप से विस्तृत जगत से पृथक् थे, को नगरों के साथ जोड़ दिया। औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने भी जाति व्यवस्था पर आधारित परम्परागत भारतीय समाज में अनेक प्रकार के परिवर्तनों को प्रोत्साहन दिया। एक ओर जाति व्यवस्था में परम्परागत ग्रामीण संरचना को बनाए रखने में सहायता दी है तो दूसरी ओर इसने प्रजातन्त्र को भी दृढ़ता प्रदान की है।

4. **समानता, भ्रातृत्व एवं स्वतंत्रता**—समकालीन भारतीय सामाजिक संरचना समानता एवं स्वतंत्रता पर बल देने वाली हैं। वस्तुतः समकालीन भारत की एक प्रमुख उपलब्धि लिखित संविधान की रही हैं। यह संविधान विश्व में सबसे बड़ा लिखित संविधान है जो भारत में धर्मनिरपेक्ष, सामाजिक-आर्थिक न्याय, भ्रातृत्व एवं समानता व प्रजातान्त्रिक लोकतन्त्र की स्थापना की घोषणा करता है। भारत में सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार पर आधारित संसदीय राजनीतिक प्रणाली को अपनाया गया है। यह राजनीतिक दलों के माध्यम से प्रतियोगी राजनीति का मार्ग प्रशस्त करती है एक शक्तिशाली केन्द्र की आधारशिला रखते हुए भी हमारा संविधान भारत के राज्यों के लिए संचात्मक स्वरूप प्रस्तुत करता है।

समानता, भ्रातृत्व एवं स्वतंत्रता जैसे मूल्यों को तभी प्रोत्साहन मिल सकता है जबकि समाज के निम्न वर्गों को सर्वांगीण विकास के समुचित अवसर उपलब्ध हो सके। इसीलिए अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के हितों की सुरक्षा और उनके विकास के लिए विशेष सुविधाएं प्रदान करने का उत्तरदायित्व सरकार ने वहन किया है। इसके लिए अनेक रचनात्मक उपाय अपनाए गए हैं जैसे-संसद एवं विधानसभाओं में उनके प्रतिनित्व हेतु सुरक्षित स्थान, सरकारी सेवाओं में आरक्षण की सुविधा, शिक्षा संस्थाओं में आरक्षण तथा शिक्षा हेतु दी जाने वाली छात्रवृत्तियां इत्यादि। इसी प्रकार इन कमजोर वर्गों को मकान बनाने, कुएं बनवाने एवं नल लगवाने तथा स्वरोजगार अपनाने के लिए भी वित्तीय सहायता उपलब्ध की जाती है।

5. **उदीयमान वर्ग संरचना (मध्यवर्ग का उभार)**—परम्परागत भारतीय समाज जाति पर आधारित ऊच-नीच वाला समाज रहा है। जातीय संरचना इतनी अधिक प्रबल रही है कि इसने आर्थिक आधार पर वर्गों को भी अपने नीचे दबाए रखा है तथा वर्ग संरचना को उभरने नहीं दिया है। समकालीन भारतीय समाज में आर्थिक आधार पर निर्मित वर्ग जातीय श्रेणियों से अलग होते हुए दिखाई देते हैं। स्वतंत्रता पश्चात् भारत में सामन्तवादी कृषक संरचना को समाप्त करने हेतु प्रयास प्रारम्भ हुए। इस दिशा में सरकार द्वारा अनेक भूमि सुधार कार्यक्रम लागू किए गए। इन भूमि सुधार कार्यक्रमों का मुख्य उद्देश्य मध्यस्थों की समाप्ति, भूस्वामी-काश्तकारों के सम्बन्धों को निश्चित किराए द्वारा सुरक्षा देना, उच्चतम सीमा निर्धारण द्वारा भूमि का पुनर्वितरण करना तथा सहकारी कृषि का विकास करना था। इस दिशा में 'जमींदारी उन्मूलन अधिनियम' तथा भूमि सुधारों से संबंधित अन्य अधिनियम सराहनीय प्रयास माने जाते हैं। इन प्रयासों का स्वतंत्रता पूर्व की कृषक संरचना पर दूरगामी प्रभाव हुआ।

भारत में स्वतंत्रता पश्चात् उभरती हुई कृषक संरचना के निम्नलिखित प्रमुख लक्षण हैं—

- भारतीय कृषि रूपान्तरण की स्थिति में हैं जिसमें अर्द्ध-सामन्तवादी व्यवस्था काफी सीमा तक समाप्त हो गई है।
- जीवन निर्वाह पर आधारित कृषि व्यवस्था व्यापार एवं बाजार पर आधारित कृषि व्यवस्था में परिवर्तित हो गई है। यह उन क्षेत्रों में अधिक हुआ है जहां उत्पादन हेतु उन्नत तकनीकी का प्रयोग होता है।
- पिछले कुछ दशकों में आधुनिक उद्यमी कृषकों का एक ऐसा वर्ग विकसित होता जा रहा है जो अपनी भूमि पर कृषि, किराये पर काम करने वाले श्रमिकों की सहायता से करता है तथा नवीन तकनीकी एवं उन्नत बीजों का भी प्रयोग करता है। इस वर्ग में अधिकतर वे परिवार सम्मिलित हैं जो भूतपूर्व अर्द्ध-सामन्तवादी भूस्वामी, उधार देने वाले साहूकार एवं व्यापारी हैं। इनके द्वारा श्रमिकों के साथ व्यवहार आज भी जातिगत प्रतिमानों द्वारा प्रभावित है।
- यद्यपि आज भी भूमि का केन्द्रीकरण उच्च एवं प्रभु जातियों के परिवारों के आस-पास ही है, तथापि मध्यम एवं निम्न जातियों के छोटे भू-स्वामियों की संख्या बढ़ती जा रही है।
- कृषि श्रमिकों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है कम मजदूरी एवं बेरोजगारी के कारण ऐसे अनेक श्रमिक एक गांव से दूसरे गांव की ओर तथा गांव से नगर की ओर रोजगार की तलाश में प्रवसन करने लगे हैं। नए स्थानों पर इन श्रमिकों के सम्बन्ध जातीय आधार पर निर्धारित नहीं होते हैं।

स्पष्ट है कि समकालीन भारतीय सामाजिक संरचना में कृषक संबंधों के निर्धारण में जाति, वर्ग तथा भू-स्वामित्व का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। स्वतंत्रता पश्चात् कृषि श्रमिकों की बढ़ती हुई संख्या एवं बिगड़ती हुई सामाजिक-आर्थिक स्थिति ने उन्हें अपने गांव छोड़कर ऐसे क्षेत्रों की ओर जाने के लिए विवश कर दिया है जहां रोजगार के अवसर अपेक्षाकृत अधिक हैं।

के.एल.शर्मा ने ग्रामीण समाज में जाति एवं वर्ग के सन्दर्भ में सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन किया है। इनके अनुसार ग्रामीण भारत में पांच प्रकार के कृषक समूह पाए जाते हैं।-

1. मालिक-काशतकार
2. अधिकांशतः मालिक-काशतकार
3. अधिकांशतः किराए की भूमि पर खेती करने वाले काशतकार
4. किराए की भूमि पर खेती करने वाले काशतकार
5. निर्धन कृषक

आन्द्रे बेतेई ने कृषक सामाजिक संरचना, कृषक समाज में पाए जाने वाली वर्ग संरचना, कृषक संबंधों, कृषक असन्तोष तथा कृषक आन्दोलनों का विस्तृत अध्ययन किया है। इनके अनुसार ग्रामीण कृषक संरचना में निम्नलिखित वर्ग पाए जाते हैं-

1. भू-स्वामी कृषक
2. भू-स्वामी खेतिहार कृषक
3. काशतकार अथवा बटाईदार कृषक
4. कृषि श्रमिक

उपर्युक्त विभिन्न श्रेणियों और इनके पारम्परिक संबंधों से कृषक संस्तरण प्रणाली निर्मित होती हैं जो भारतीय ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता हैं। इस सामाजिक व्यवस्था में पाया जाने वाला सामंजस्य अथवा असन्तोष इन श्रेणियों के पारस्परिक सामाजिक संबंधों पर निर्भर करता है।

6. **संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण तथा जातीय संरचना की कठोरता में कमी-** समकालीन भारतीय सामाजिक संरचना को सामाजिक परिवर्तन की अनेक प्रक्रियाएं प्रभावित कर रही हैं। इनमें से कुछ प्रक्रियाएं तो आन्तरिक हैं, जबकि कुछ अन्य बाहरी प्रक्रियाएं हैं (जैसे पश्चिमीकरण)। संस्कृतिकरण भारतीय समाज में परिवर्तन की एक प्रमुख आन्तरिक प्रक्रिया है। इसके माध्यम से निम्न जातियां उच्च जातियों के शास्त्रीय संस्कार व कर्मकाण्ड अपनाकरण सामाजिक संस्तरण में उच्च स्थान का दावा करती हैं। यह दावा तुरन्त स्वीकार हो या न हो वह अलग बात है लेकिन ब्राह्मणवादी कर्मकाण्डीय शास्त्रीय संस्कृति का इस माध्यम से सर्वव्यापीकरण तो होता ही है जो पुरानी स्थिति में निश्चित बदलाव पैदा कर देता है। पहले ये कर्मकाण्ड केवल उच्च जातियों तक ही सीमित थे। अब अनेक निम्न जातियां इस प्रक्रिया के माध्यम से अपना सामाजिक स्तर ऊंचा उठाने में सफल रही हैं।

पिछले 200 वर्षों में विशेषतः अंग्रेजी सरकार के माध्यम से हम पश्चिम के ज्ञान, जीवन शैली, संस्कृति तथा यन्त्र व तकनीक से प्रभावित हो रहे हैं। इन्हीं परिवर्तनों के लिए 'पश्चिमीकरण' शब्द का प्रयोग किया जाता है। पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ने भी भारतीय समाज एवं संस्कृति को काफी प्रभावित किया है तथा यह कहा जाता है कि शायद ही ऐसा कोई क्षेत्र हो जिस पर इस प्रक्रिया का प्रभाव न पड़ा हो। आजादी के बाद यह प्रभाव और भी अधिक बढ़ा है। यह सच है कि पहले उच्च जातियों में पश्चिमीकरण हुआ लेकिन धीरे-धीरे व कभी सीधे ही, निम्न जातियां संस्कृतिकरण की असारता को समझकर पश्चिमीकरण को अंगीकृत कर लेती हैं। आज सम्पूर्ण भारतीय समाज पर पश्चिमीकरण का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है।

संस्कृतिकरण एवं पश्चिमीकरण की प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप परम्परागत कठोर जातीय संरचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इनमें से प्रमुख परिवर्तन निम्नलिखित हैं-

- समकालीन भारतीय समाज में जातीय संस्तरण का स्वरूप परिवर्तित होता जा रहा है, क्योंकि प्रदत्त स्थिति के स्थान पर अर्जित गुणों का महत्व बढ़ता जा रहा है।
- समकालीन भारतीय समाज में जाति का व्यक्ति कोई भी व्यवसाय से जो सम्बन्ध था वह समाप्त हो गया है। आज किसी भी जाति का व्यक्ति कोई भी व्यवसाय अपना सकता है।
- समकालीन भारतीय समाज में जातीय एकता में कमी हुई है तथा जातीय गुट उभरकर सामने आने लगे हैं।
- समकालीन भारतीय समाज में जातीय निषेधों में भी परिवर्तन हुए हैं तथा व्यवसाय, विवाह, खान-पान तथा सहवास संबंधी निषेध प्रायः समाप्त हो गए हैं।

- समकालीन भारतीय समाज में निम्न जातियों की सामाजिक-आर्थिक नियोग्यताएं समाप्त हो रही हैं तथा उनकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है। भारतीय संविधान एवं कानून ने इस दिशा में विशेष योगदान दिया है।
- समकालीन भारतीय समाज में प्रेम-विवाहों तथा अन्तर्जातीय विवाहों के परिणामस्वरूप जाति की अन्तर्विवाह की विशेषता समाप्त होती जा रही हैं।
- समकालीन भारतीय समाज में विभिन्न जातियों में सामाजिक दूरी निश्चित रूप से कम हुई है।

7. **एकाकी परिवारों की बढ़ती हुई संख्या**-समकालीन भारतीय समाज संरचना में संयुक्त परिवार, जोकि भारतीय समाज का एक प्रमुख स्तम्भ माना जाता था, में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। नगरीकरण, औद्योगिकीकरण, पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण, लौकिकीकरण एवं सामाजिक गतिशीलता जैसी प्रक्रियाओं ने परम्परागत संयुक्त परिवार की संरचना को काफी सीमा तक प्रभावित किया है। इसी के परिणामस्वरूप आज संयुक्त परिवारों की संख्या कम होती जा रही है तथा उनका स्थान एकाकी परिवार लेते जा रहे हैं। कुछ भारतीय एवं पश्चिमी विद्वान इस प्रकार के परिवर्तनों को संयुक्त परिवार का विघटन मानते हैं। आज व्यावसायिक गतिशीलता के कारण परिवार के सदस्य भिन्न-भिन्न व्यवसायों में ही लगे हुए नहीं होते अपितु उनके विचारों में भी भिन्नता आ जाती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यवसाय के अनुकूल ही मानसिक प्रवृत्ति विकसित कर लेता है और उसी के अनुकूल बात करता है। यदि परिवार एक ही नगर में है तो भी आवास समस्या के कारण संयुक्त परिवार प्रणाली के आधार पर एक साथ रहना सम्भव नहीं हो पाता। इन सभी कारणों से परिवार अनेक छोटे-छोटे टुकड़ों में भी विभाजित हो जाता है अथवा वह विघटन की अवस्था तक पहुँच जाता है। परिवर्तन के विभिन्न कारकों ने परिवार के सभी सदस्यों को इतना व्यक्तिवादी बना दिया है कि वे दूसरों की भलाई व प्रगति के सम्बन्ध में सोच भी नहीं पाते।

इसके अतिरिक्त नवीन आर्थिक व्यवस्था के कारण संयुक्त परिवार के आर्थिक कार्यों, नवीन शिक्षा प्रणाली के कारण संयुक्त परिवार के शैक्षिक कार्यों, व्यावसायिक मनोरंजन एवं जनसंचार के माध्यमों के परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार के मनोरंजनात्मक कार्यों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। इन सब कार्यों में कमी के कारण संयुक्त परिवार का महत्व दिन-प्रतिदिन कम होता जा रहा है तथा इनका स्थान एकाकी परिवार लेते जा रहे हैं। ऐसा लगता है कि आज पढ़े-लिखे युवक एवं युवतियों की मानसिकता भी एकाकी परिवारों को प्रोत्साहन देने वाली ही है। इससे आज तीव्रता से संयुक्त परिवार का स्थायित्व कम होता जा रहा है। हल्के से सामाजिक परिवर्तन के झोंके से ही उसमें परिवर्तन आ जाते हैं। आज संयुक्त परिवारों को किसी भी समय तोड़ा जा सकता है क्योंकि विवाह संबंध अब एक समझौता मात्र रह गए हैं। परिवार का अपने सदस्यों पर नियन्त्रण समाप्त सा होता जा रहा है। पति-पत्नी में कलह व द्वेष बढ़ने के कई उदाहरण हमारे सामने आते रहते हैं, बच्चे मनमानी लगते हैं और परिवार के सदस्यों में सजातीयता के स्थान पर विजातीयता में वृद्धि होती जा रही है। इसलिए आधुनिक युग में संयुक्त परिवार प्राचीन व मध्यकालीन परिवारों की तुलना में अधिक दुर्बल व अस्थिर है। एकाकी परिवार कहां तक संयुक्त परिवारों की कमियों को दूर कर पाएंगे, यह तो आने वाला समय ही बता सकता है।

8. **बढ़ता हुआ औपचारिक नियन्त्रण**-समकालीन भारतीय सामाजिक संरचना की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता बढ़ता हुआ औपचारिक नियन्त्रण है। परम्परागत भारतीय समाज में जाति पंचायतें, परिवार, पड़ोस, परम्पराएं, प्रथाएं, जनरीतियों, धर्म, विश्वास, जनमत इत्यादि सामाजिक नियन्त्रण के प्रमुख अनौपचारिक अभिकरण रहे हैं। समकालीन भारतीय समाज में इनका महत्व कम होता जा रहा है तथा औपचारिक शिक्षा, राज्य एवं कानून जैसे औपचारिक साधनों का महत्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है। इसी के परिणामस्वरूप आज परिवार के सदस्यों में भी पाए जाने वाले सामाजिक संबंधों में औपचारिकता का अंश बढ़ता जा रहा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि समकालीन भारतीय सामाजिक संरचना परम्परागत भारतीय सामाजिक संरचना से काफी सीमा तक भिन्न है। वस्तुतः परम्परागत एवं समकालीन सामाजिक संरचना में पाए जाने वाले अन्तर अभी भी सापेक्ष ही हैं, निरपेक्ष नहीं।



## भारतीय सामाजिक संस्थाएं

विश्व का कोई भी समाज भिन्न-भिन्न संस्थाओं से मिलकर बना होता है जिनमें आपस में सामाजिक संस्य पाया जाता है। भारतीय समाज भी निम्न संस्थाओं द्वारा निर्मित है-

1. जाति एवं जाति व्यवस्था
2. जनजाति समुदाय
3. बाजार एवं समाज
4. परिवार एवं नातेदारी (बंधुता)
5. नागरिक समाज एवं राज्य

### 1. जाति एवं जाति व्यवस्था

अंग्रेजी के शब्द कास्ट (caste) की उत्पत्ति पुर्तगाली मूल के शब्द कास्टा (casta) से हुई है। पुर्तगाली कास्टा का अर्थ है विशुद्ध नस्ल। अंग्रेजी शब्द कास्ट का अर्थ एक विस्तृत संस्थागत व्यवस्था से है जिसे भारतीय भाषाओं में (प्राचीन संस्कृत भाषा से प्रारंभ करते हुए) दो विभिन्न शब्दों-वर्ण और जाति-के अर्थ में उपयोग किया जाता है। वर्ण, जिसका शाब्दिक तात्पर्य है 'रंग', समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के चार श्रेणियों के विभाजन को कहा जाता है। हालाँकि इस विभाजन में जनसंख्या का एक महत्वपूर्ण भाग शामिल नहीं है जो कि 'जाति बहिष्कृत', विदेशियों, दासों, युद्धों में पराजित लोगों एवं अन्य लोगों से मिलकर बना है। इन्हें कभी-कभी 'पंचम' या पाँचवीं श्रेणी भी कहा जाता है। जाति एक व्यापक शब्द है जो किसी भी चीज के प्रकार या वंश-श्रेणी (स्पीशीज) को संबोधित करने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। इसमें अचेतन वस्तुओं से लेकर पेड़-पौधों, जीव-जंतु और मनुष्य भी शामिल होते हैं। भारतीय भाषाओं में जाति शब्द का प्रयोग सामान्यतः जाति संस्थान के संदर्भ में ही किया जाता है।

'वर्ण' और 'जाति' के आपसी संबंध की सटीक व्याख्या क्या हो? यह प्रश्न विद्वानों के बीच अटकलबाजी व बहस का विषय रहा है। सबसे सामान्य व्याख्या यह है कि वर्ण को एक अखिल भारतीय सामूहिक वर्गीकरण के रूप में समझा जा सकता है, वहीं जाति को क्षेत्रीय या स्थानीय उप-वर्गीकरण के रूप में समझा जा सकता है जिसमें सैकड़ों या यहाँ तक की हजारों जातियों एवं उप-जातियों से बनी अत्यधिक जटिल व्यवस्था शामिल होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ चार वर्णों का वर्गीकरण पूरे भारत में समान है, वहीं जाति अधिक्रम के वर्गीकरण क्षेत्रीय हैं जो एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बदलते रहते हैं।

### जाति की उत्पत्ति

इस बात पर भी मतभेद है कि जाति व्यवस्था की उत्पत्ति का सुनिश्चित काल क्या है। सामान्यतः यह माना जाता है कि चार वर्णों का वर्गीकरण लगभग तीन हजार साल पुराना है। हालाँकि, विभिन्न समय कालों में 'जाति व्यवस्था' के विभिन्न स्वरूप रहे हैं इसलिए यह मान लेना कि एक समान व्यवस्था तीन हजार वर्षों से चली आ रही है अपने आप को भ्रमित करना होगा। अपने प्रारंभिक काल, वैदिक काल, 900-500 ई. पू. के बीच में जाति व्यवस्था वास्तव में वर्ण व्यवस्था ही थी और इसके केवल चार विभाजन थे। यह विभाजन बहुत विस्तृत या बहुत कठोर नहीं थे और यह जन्म से निर्धारित नहीं होते थे। इन वर्णों के बीच स्थान परिवर्तन संभव ही नहीं बल्कि सामान्य भी था। अतः उत्तर-वैदिक काल में ही जाति एक कठोर संस्था बनी जिससे हम जाति की प्रसिद्ध परिभाषाओं द्वारा परिचित हैं।

### जाति की सबसे सामान्य निर्धारित विशेषताएँ निम्न हैं-

1. जाति, जन्म से निर्धारित होती है। एक बच्चा अपने माता-पिता की जाति में ही 'जन्म लेता' है। जाति कभी चुनाव का विषय नहीं होती। हम अपनी जाति को कभी भी बदल नहीं सकते, छोड़ नहीं सकते या हम इस बात का चुनाव नहीं कर सकते कि हमें जाति में शामिल होना है या नहीं। हालाँकि, ऐसे उदाहरण हैं जहाँ एक व्यक्ति को उसकी जाति से निकाला भी जा सकता है।
2. जाति की सदस्यता के साथ विवाह संबंधी कठोर नियम शामिल होते हैं। जाति समूह 'सजातीय' होते हैं अर्थात् विवाह समूह के सदस्यों में ही हो सकते हैं।

3. जाति सदस्यता में खाने और खाना बाँटने के बारे में नियम भी शामिल होते हैं। किस प्रकार का खाना खा सकते हैं और किस प्रकार का नहीं, यह निर्धारित है और किसके साथ खाना बाँटकर खाया जा सकता है यह भी निर्धारित होता है।
4. जाति में श्रेणी एवं प्रस्थिति के एक अधिक्रम में संयोजित अनेक जातियों की एक व्यवस्था शामिल होती है। सैद्धांतिक तौर पर, हर व्यक्ति की एक जाति होती है और हर जाति का सभी जातियों के अधिक्रम में एक निर्धारित स्थान होता है। जहाँ अनेक जातियों की अधिक्रमित स्थिति, विशेषकर मध्यक्रम की श्रेणियों में एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बदल सकती है पर अधिक्रम हमेशा पाया जाता है।
5. जातियों में आपसी उप-विभाजन भी होता है अर्थात् जातियों में हमेशा उप-जातियाँ होती हैं और कभी-कभी उप-जातियों में भी उप-उप-जातियाँ होती हैं। इसे खंडात्मक संगठन (segmental organisation) कहते हैं।
6. पारंपरिक तौर पर जातियाँ व्यवसाय से जुड़ी होती थीं। एक जाति में जन्म लेने वाला व्यक्ति उस जाति से जुड़े व्यवसाय को ही अपना सकता था, अतः वह व्यवसाय वंशानुगत थे अर्थात् यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होते थे। दूसरी ओर, एक विशेष व्यवसाय, किसी जाति से जुड़े होने की वजह से उसी जाति के लोग अपना सकते थे, किसी दूसरी जातियों के सदस्य वह काम नहीं कर सकते थे।

यह विशिष्टताएँ निर्धारित नियम हैं जो प्राचीन धर्म-ग्रंथों में पाए जाते हैं। चूँकि यह निर्धारित नियम हमेशा व्यवहार में नहीं थे, हम यह नहीं कह सकते कि यह नियम किस सीमा तक जाति की आनुभविक वास्तविकता अर्थात् उस समय के लोगों के लिए इसका निश्चित अर्थ निर्धारित करते थे। अधिकांश निर्धारित नियमों में प्रतिबंध शामिल थे। ऐतिहासिक सूत्रों से यह भी साफ़ तौर पर साबित होता है कि जाति एक बहुत असमान संस्था थी। जहाँ कुछ जातियों को तो इस व्यवस्था से बहुत लाभ रहा, वहीं अन्य जातियों को इसकी वजह से अधीनता एवं कभी भी न समाप्त होने वाले श्रम का जीवन जीने का दंड भुगतना पड़ा। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जब जाति जन्म द्वारा कठोरता से निर्धारित हो गई उसके बाद किसी व्यक्ति के लिए सैद्धांतिक तौर पर कभी भी उसकी जीवन स्थिति बदलना असंभव था। चाहे उच्च जाति के लोग उच्च स्तर के लायक हों या न हों, उनका स्तर हमेशा उच्च ही रहता था जबकि निम्न जाति के लोगों का स्तर हमेशा निम्न रहता था।

**सैद्धांतिक तौर पर, जाति व्यवस्था को सिद्धांतों के दो समुच्चयों के मिश्रण के रूप में समझा जा सकता है, एक भिन्नता और अलगाव पर आधारित है और दूसरा संपूर्णता और अधिक्रम पर।** हर जाति से यह अपेक्षित है कि वह दूसरी जाति से भिन्न हों और इसलिए वह प्रत्येक अन्य जाति से कठोरता से पृथक होती है। अतः जाति के अधिकांश धर्मग्रंथसम्मत नियमों की रूपरेखा जातियों को मिश्रित होने से बचाने के अनुसार बनाई गई है। इन नियमों में शादी, खान-पान एवं सामाजिक अंतःक्रिया से लेकर व्यवसाय तक के नियम शामिल हैं। वहीं दूसरी ओर इन विभिन्न एवं पृथक जातियों का कोई व्यक्तिगत अस्तित्व नहीं है, वे एक बड़ी संपूर्णता से संबंधित होकर ही अपना अस्तित्व बनाए रख सकती हैं। समाज की संपूर्णता में सभी जातियाँ शामिल होती हैं। इससे भी आगे, यह सामाजिक संपूर्णता या व्यवस्था समानतावादी व्यवस्था होने की बजाय अधिक्रमित व्यवस्था है। प्रत्येक जाति का समाज में एक विशिष्ट स्थान के साथ-साथ एक क्रम श्रेणी भी होती है। एक सीढ़ीनुमा व्यवस्था में, जो ऊपर से नीचे जाती है प्रत्येक जाति का एक विशिष्ट स्थान होता है।

धार्मिक या कर्मकांडीय दृष्टि से जाति की अधिर्वर्तित व्यवस्था 'शुद्धता' (शुचिता) और 'अशुद्धता' (अशुचिता) के बीच के अंतर पर आधारित होती है। यह विभाजन जिसे हम पवित्र के करीब मानने में विश्वास रखते हैं (अतः कर्मकांड की शुद्धता के लक्ष्यार्थ), उसके और जिसे हम पवित्र से परे मानते हैं या उसके विपरीत मानते हैं अतः वह कर्मकांड के लिए प्रदूषित होता है, के बीच हैं। वह जातियाँ जिन्हें कर्मकांड की दृष्टि से शुद्ध माना जाता है उनका स्थान उच्च होता है और जिनको कम शुद्ध या अशुद्ध माना जाता है उन्हें निम्न स्थान दिया जाता है। जैसाकि हर समाज में होता है, सामाजिक स्तर से भौतिक शक्ति (अर्थात्, आर्थिक या सैन्य शक्ति) नजदीकी से जुड़ी होती है, अतः जिनके पास शक्ति होती है उनकी स्थिति उच्च होती है और जिनके पास शक्ति नहीं होती उनकी स्थिति निम्न होती है। इतिहासकारों का मानना है कि जो लोग युद्धों में पराजित हुए थे उन्हें अक्सर निम्न जाति की स्थिति मिली।

अंत में यह भी कहा जा सकता है कि जातियाँ एक दूसरे से सिर्फ कर्मकांड की दृष्टि से ही असमान नहीं हैं उनसे यह भी अपेक्षित है कि वे एक-दूसरे की सहयोगी होंगी एवं उनमें आपस में प्रतिस्पर्धा नहीं होगी। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक जाति का व्यवस्था में अपना स्थान तय है और वो स्थान किसी भी अन्य जाति को नहीं दिया जा सकता। चूँकि, जाति व्यवसाय से भी जुड़ी हुई है, अतः व्यवस्था श्रम के सामाजिक विभाजन के अनुरूप कार्य करती है, परंतु सैद्धांतिक तौर पर यह किसी भी प्रकार की परिवर्तनशीलता की अनुमति नहीं देती है।

यह अचंभे की बात नहीं है कि अतीत के बारे में हमारे ज्ञान के स्रोत, मुख्यतः प्राचीन काल के बारे में, अपर्याप्त हैं। यह तय कर पाना मुश्किल है कि उस समय परिदृश्य कैसा था या किन कारणों से कुछ संस्थाओं या व्यवहारों की स्थापना हुई थी। परंतु, अगर हमें इस बारे में पूरी जानकारी होती तो भी उससे हमें यह नहीं पता चल सकता कि आज हमें क्या करना चाहिए। सिर्फ इसलिए कि अतीत में कुछ हुआ था वह हमारी परंपरा का हिस्सा है यह आवश्यक नहीं कि वह हमेशा के लिए सही या गलत है। **प्रत्येक काल में इन प्रश्नों के बारे में नए सिरे से सोचना होगा और अपनी सामाजिक संस्थाओं के बारे में स्वयं के सामूहिक निर्णय को बनाना होगा।**

## जाति का समकालीन रूप

### (क) उपनिवेशवाद और जाति

एक सामाजिक संस्था के रूप में जाति के वर्तमान स्वरूप को औपनिवेशिक काल और साथ ही स्वतंत्र भारत में तीव्र गति से हुए परिवर्तनों द्वारा मजबूती से आकार प्रदान किया गया।

प्रारंभ में, ब्रिटिश प्रशासकों ने देश पर कुशलतापूर्वक शासन करना सीखने के उपेक्ष से जाति व्यवस्थाओं की जटिलताओं को समझने के प्रयत्न शुरू किए। इन प्रयत्नों के अंतर्गत देश भर में विभिन्न जनजातियों तथा जातियों की 'प्रथाओं और तौर-तरीकों' के बारे में अत्यंत सुव्यवस्थित रीति से गहन सर्वेक्षण किए गए और उनके विषय में रिपोर्टें तैयार की गईं।

लेकिन जाति के विषय में सूचना एकत्र करने का अब तक का सबसे महत्वपूर्ण सरकारी प्रयत्न जनगणना के माध्यम से किया गया। 1901 में हरबर्ट रिसले के निर्देशन में कराई गई जनगणना विशेष रूप से महत्वपूर्ण थी क्योंकि इस जनगणना के अंतर्गत जाति के सामाजिक अधिक्रम के बारे में जानकारी इकट्ठी करने का प्रयत्न किया गया अर्थात् किस क्षेत्र में किस जाति को अन्य जातियों की तुलना में सामाजिक दृष्टि से कितना ऊंचा या नीचा स्थान प्राप्त है और तदनुसार श्रेणी क्रम में प्रत्येक जाति की स्थिति निर्धारित कर दी गई। जाति के सामाजिक बोध पर इस प्रयास का गहरा प्रभाव पड़ा और विभिन्न जातियों के प्रतिनिधियों द्वारा जनगणना आयुक्त के पास सैकड़ों याचिकाएँ भेजी गईं जिनमें उन्होंने सामाजिक क्रम में अपनी जाति को अधिक ऊंचा स्थान देने की माँग की थी और अपने दावों के समर्थन में अनेक ऐतिहासिक तथा धर्मशास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत किए थे। कुल मिलाकर, विद्वान यह महसूस करते हैं कि इस प्रकार की जातीय गणना और आधिकारिक रूप से जातियों की प्रस्थिति का अभिलेख करने के प्रत्यक्ष प्रयास ने जाति संस्था के स्वरूप को ही बदल डाला।

औपनिवेशिक शासन द्वारा किए गए अन्य हस्तक्षेपों ने भी इस संस्था पर अपना प्रभाव डाला। भूराजस्व व्यवस्थाओं और तत्संबंधी प्रबंधों तथा कानूनों ने उच्च जातियों के रूढ़िगत (जाति आधारित) अधिकारों को वैध मान्यता देने का कार्य किया। अब ये जातियाँ, सामंती वर्गों की बजाय, आधुनिक अर्थों में भू-स्वामी यानी जमीन की मालिक बन गईं और जमीन की उपज पर अथवा राजस्व या अन्य कई प्रकार के नजरानों पर उनका दावा स्थापित हो गया। पंजाब की तरह अन्य क्षेत्रों में भी बड़े पैमाने पर सिंचाई की योजनाएँ प्रारंभ की गईं और उनके साथ-साथ लोगों को वहाँ बसाने के प्रयत्न किए गए और इन सभी प्रयत्नों का भी अपना एक जातीय आयाम था।

इस क्रम के दूसरे सिरे पर औपनिवेशिक काल के अंतिम दौर में, प्रशासन ने पद दलित जातियों, जिन्हें उन दिनों 'दलित वर्ग' कहा जाता था, के कल्याण में भी रुचि ली। इन प्रयत्नों के अंतर्गत ही 1935 का भारत सरकार अधिनियम पारित किया गया जिसने राज्य द्वारा विशेष व्यवहार के लिए निर्धारित जातियों तथा जनजातियों की सूचियों या 'अनुसूचियों' को वैध मान्यता प्रदान कर दी। इस प्रकार, 'अनुसूचित जनजातियाँ' और 'अनुसूचित जातियाँ' शब्द अस्तित्व में आए। जातीय अधिक्रम में जो जातियाँ सबसे नीचे थीं जिनके साथ सबसे अधिक भेदभाव बरता जाता था और जिनमें सभी तथाकथित 'अस्पृश्य' यानी अछूत जातियाँ शामिल थीं, उन्हें अनुसूचित जातियों की श्रेणी में शामिल किया गया।



इस प्रकार, उपनिवेशवाद ने जाति संस्था में अनेक प्रमुख परिवर्तन किए। शायद यह कहना अधिक समीचीन होगा कि औपनिवेशिक काल में जाति की संस्था में अनेक आधारभूत परिवर्तन आए। उस काल में, पूंजीवाद और आधुनिकता के प्रसार के कारण, भारत में ही नहीं बल्कि विश्व भर में तेजी से बदलाव आ रहा था।

### जाति एवं राष्ट्रीय आंदोलन

राष्ट्रवादी आंदोलनों के लिए व्यापक पैमाने पर जनमत जुटाने में भी जातीय भावनाओं एवं आधारों ने अनिवार्य रूप से अपनी भूमिका अदा की थी। 'दलित वर्गों' और विशेष रूप से अस्पृश्य (अछूत) समझी जाने वाली जातियों को संगठित करने के प्रयत्न राष्ट्रवादी आंदोलन प्रारंभ होने से पहले ही 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारंभ हो चुके थे। जातीय अधिक्रम के दोनों सिरों से उच्च कही जाने वाली जातियों के प्रगतिशील सुधारकों और नीची समझी जाने वाली जातियों के सदस्यों जैसे, पश्चिमी भारत में महात्मा ज्योतिबा फुले और बाबा साहेब अंबेडकर और दक्षिण भारत में अव्यनकालि, श्री नारायण गुरु, इयोतीदास और पेरियार (ई. वी. रामास्वामी नायकर) दोनों ने ही इस दिशा में पहल की। महात्मा गांधी और बाबा साहेब अंबेडकर दोनों ने ही 1920 के दशक से अस्पृश्यता (छुआछूत) के विरुद्ध अपने विरोधांदोलन शुरू कर दिए थे। अस्पृश्यता-विरोधी कार्यवाहों को कांग्रेस की कार्यसूची में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया और जब स्वतंत्रता क्षितिज पर दृष्टिगोचर होने लगी तब तक राष्ट्रवादी आंदोलन के संपूर्ण परिदृश्य में, मोटे तौर पर यह सहमति हो गई कि जातीय विभिन्नताओं का उन्मूलन कर दिया जाए। राष्ट्रवादी आंदोलन में मुखरित यह प्रबल दृष्टिकोण जाति को एक सामाजिक कुरीति और भारतीयों के बीच फूट डालने की एक औपनिवेशिक युक्ति मानता था। लेकिन राष्ट्रवादी नेतागण, जिनमें महात्मा गांधी प्रमुख थे, सबसे नीची समझी जाने वाली जातियों के उत्थान के लिए अस्पृश्यता तथा अन्य जातीय प्रतिबंधों के उन्मूलन के पक्ष में समर्थन जुटाने के लिए प्रयत्नशील रहे और साथ ही, भू-स्वामी उच्च जातियों को यह आश्वासन देने में भी सफल रहे कि उनके हितों का भी ध्यान रखा जाएगा।

### आजादी के बाद जाति- जातिगत आधार पर आरक्षण का औचित्य

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राज्य को ये अंतर्विरोध विरासत में मिले जो बाद में प्रतिबिंबित होते रहे। एक ओर तो राज्य जाति प्रथा के उन्मूलन के लिए प्रतिबद्ध था और भारत के संविधान में भी स्पष्ट रूप से इसका उल्लेख किया गया। दूसरी ओर, राज्य उन आमूलचूल सुधारों को लाने में असमर्थ एवं अनिच्छुक था जो जातीय असमानता के लिए आर्थिक आधार को दुर्बल बना देते। एक अन्य स्तर पर भी, राज्य ने यह माना कि यदि वह जाति प्रथा की ओर आँखें बंद करके काम करेगा तो उससे स्वतः ही जाति आधारित विशेषाधिकार कमजोर पड़ जाएँगे और अंततोगत्वा इस संस्था का उन्मूलन हो जाएगा। उदाहरण के लिए, सरकारी पदों पर नियुक्तियों के मामले में जाति का कोई ध्यान नहीं रखा जाता था और इस प्रकार अच्छी तरह से शिक्षित उच्च जातियों और अल्प-शिक्षित अथवा अक्सर निरक्षर निम्न जातियों को 'समान' आधार पर प्रतियोगिता करनी पड़ती थी। इसका एकमात्र अपवाद यही था कि अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए कुछ पद आरक्षित होते थे। दूसरे शब्दों में, स्वतंत्रता-प्राप्ति के ठीक बाद के कुछ दशकों तक राज्य ने इस तथ्य पर समुचित कार्रवाई करने के लिए पर्याप्त प्रयत्न नहीं किए कि उच्च जातियाँ तथा निम्न समझी जाने वाली जातियाँ आर्थिक तथा शैक्षिक दृष्टि से कतई समान नहीं हैं।

राज्य के विकास संबंधी कार्यकलाप और निजी उद्योग की संवृद्धि ने भी आर्थिक परिवर्तन में तीव्रता और गहनता लाकर अप्रत्यक्ष रूप से जाति संस्था को प्रभावित किया। आधुनिक उद्योग ने सभी प्रकार के नए-नए रोजगार के अवसर तैयार किए जिनके लिए कोई जातीय नियम नहीं थे। नगरीकरण और शहरों में सामूहिक रहन-सहन की परिस्थितियों ने सामाजिक अंतःक्रिया के जाति-पृथक्कृत स्वरूपों का अधिक समय तक चलना मुश्किल कर दिया।

एक अन्य स्तर पर, आधुनिक शिक्षा प्राप्त भारतीय व्यक्तिवाद और योग्यतातंत्र अर्थात् योग्यता को महत्व देने के उदार विचारों से आकर्षित हुए और उन्होंने अधिक अतिवादी जातीय व्यवहारों को छोड़ना प्रारंभ कर दिया। दूसरी ओर, यह भी उल्लेखनीय था कि जाति व्यवस्था कितनी मजबूत साबित हुई। औद्योगिक नौकरियों में भर्ती, चाहें वह भर्ती मुंबई की कपड़ा मिलों में हो या कोलकाता की जूट मिलों में अथवा कहीं अन्यत्र हो, जाति और नातेदारी के आधार पर होती रही। बिचौलिया जो कारखानों या मिलों के लिए मजदूर भर्ती करता था, अपनी जाति या क्षेत्र के उम्मीदवारों में से मजदूर चुनता था जिससे उन विभागों या कारखानों में अक्सर एक खास जाति के मजदूरों का ही बोलबाला रहता था।

यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है कि जाति सांस्कृतिक और घरेलू क्षेत्रों में ही सबसे सुदृढ़ सिद्ध हुई। अंतर्विवाह यानी अपनी जाति के भीतर विवाह करने की परिपाटी, आधुनिकीकरण और परिवर्तन से बड़े तौर पर अप्रभावित रही। आज भी अधिकांश विवाह जाति की परिसीमाओं के भीतर ही होते हैं हालाँकि, अंतर्जातीय विवाह अब पहले की तुलना में अधिक हो रहे हैं। किंतु कुछ परिसीमाएँ अमिक लचीली हो गई हैं अथवा उनमें कुछ दरारें पड़ गई हैं, परंतु समान सामाजिक आर्थिक प्रस्थिति के जाति के समूहों के बीच के विभाजन को बनाए रखने की अब भी बराबर कोशिश की जाती है। उदाहरण के लिए, उच्च जातियों (जैसे, ब्राह्मण, बनिया, राजपूत) के भीतर अंतर्जातीय विवाह संभवतः पहले से कहीं अधिक हो रहे हैं पर उच्च जाति और पिछड़ी या अनुसूचित जाति के व्यक्तियों के बीच विवाह आज भी न के बराबर ही हो रहे हैं। भोजन को मिल-बाँटकर खाने के नियमों के मामले में भी स्थिति लगभग ऐसी ही है। अछूतों के प्रति खूब भेदभाव बरता जाता था और शहरों में भी इस तरह के पूर्वाग्रह का अभाव नहीं था हालाँकि, यह गाँवों की तुलना में कम था।

### **जाति और समकालीन भारतीय राजनीति**

संभवतः परिवर्तन का सबसे घटनापूर्ण एवं महत्वपूर्ण क्षेत्र राजनीति का क्षेत्र रहा है। स्वतंत्र भारत में अपने प्रारंभ से ही, लोकतांत्रिक राजनीति गहनता से जाति आधारित रही है। हालाँकि इसका कार्यचालन जटिल से जटिलतर होता गया है और उसके भविष्य के बारे में कुछ कहना बहुत कठिन है फिर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि जाति चुनावी राजनीति का केंद्र-बिंदु बनी हुई है। 1980 के दशक से तो हमने स्पष्ट रूप से जाति आधारित राजनीतिक दलों को भी उभरते देखा है। प्रारंभिक सामान्य चुनावों में ऐसा प्रतीत हुआ कि जातीय भाईचारे की भूमिका चुनाव जीतने में निर्णायक रही थी। परंतु उसके तुरंत बाद ही स्थिति अत्यंत जटिल हो गई क्योंकि भिन्न-भिन्न दलों ने जातीय आधार पर मत प्राप्त करने की संभावना का हिसाब लगाने में एक-दूसरे से होड़ शुरू कर दी।

परिवर्तन की इन प्रक्रियाओं को आजमाने और समझने के लिए समाजशास्त्रियों एवं सामाजिक मानवविज्ञानियों ने कई नई-नई संकल्पनाएँ गढ़ीं। शायद उन संकल्पनाओं में सबसे अधिक प्रचलित संकल्पनाएँ ‘संस्कृतिकरण’ और ‘प्रबल-जाति’ की हैं।

‘संस्कृतिकरण’ एक ऐसी प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा (आमतौर पर मध्य या निम्न) जाति के सदस्य किसी उच्च जाति (या जातियों) की धार्मिक क्रियाओं, घरेलू या सामाजिक परिपाटियों को अपनाकर अपनी सामाजिक प्रस्थिति को ऊंचा करने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि यह प्रघटना काफी पुरानी है और स्वतंत्रता-प्राप्ति, यहाँ तक कि औपनिवेशिक काल से भी पहले अपनाई जाती रही है, लेकिन हाल के समय में इसका बहुत अधिक प्रचार हो गया है। इस प्रक्रिया के अंतर्गत समानुकरण के लिए अक्सर ब्राह्मण या क्षत्रिय जातियों के रीति-रिवाजों या परिपाटियों को अपनाया जाता था जैसे, शाकाहारी बन जाना, यज्ञोपवीत धारण करना, कुछ विशिष्ट प्रकार की प्रार्थनाएँ करना और धार्मिक उत्सव मनाना आदि-आदि। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया आमतौर पर संबंधित जाति के आर्थिक स्तर में उन्नति होने के बाद या उसके साथ-साथ अपनाई जाती है, यद्यपि यह स्वतंत्र रूप से भी अपनाई जा सकती है। इससे तर्क यह भी है कि संस्कृतिकरण पहले से निषिद्ध किसी अनुष्ठान (कर्मकांड)/सामाजिक विशेषाधिकारों (जैसे, निम्न जाति के लोगों द्वारा यज्ञोपवीत धारण करना, जिसके लिए पहले कठोर दंड दिए जाने की व्यवस्था थी) का अवज्ञापूर्ण दावा हो सकता है न कि ‘निम्न’ जातियों द्वारा ‘उच्च’ जातियों का चाटुकारीपूर्ण अनुकरण।

‘प्रबल जाति’ शब्द का प्रयोग ऐसी जातियों का उल्लेख करने के लिए किया जाता है जिनकी जनसंख्या काफी बड़ी होती थी और जिन्हें स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद किए गए आंशिक भूमि सुधारों द्वारा भूमि के अधिकार प्रदान किए गए थे। इन भूमि-सुधारों ने पहले के दावेदारों से अधिकार छीन लिए थे। ये दावेदार ऊंची जातियों के ऐसे सदस्य होते थे जो इस अर्थ में ‘अनुपस्थित यानी दूरवासी जमींदार’ थे कि वे अपना लगान वसूल करने के अलावा कृषिक अर्थव्यवस्था में कोई भूमिका अदा नहीं करते थे। वे अक्सर उस गाँव में भी नहीं रहते थे बल्कि उनका आवास कस्बों या शहरों में होता था। अब ये भूमि-अधिकार उस अगले स्तर के दावेदारों को प्राप्त हो गए हैं जो कृषि के प्रबंध में तो शामिल थे पर स्वयं भूमि नहीं जोतते थे। ये मध्यवर्ती जातियाँ भी स्वयं परिश्रम नहीं करती थीं, बल्कि भूमि की जुताई, देखभाल आदि के लिए निम्न जातियों

के मजदूरों पर आश्रित थीं, जिनमें विशेष रूप से 'अछूत' जातियों के मजदूर शामिल थे। किंतु एक बार जब उन्हें भूमि-अधिकार मिल गए तो फिर उन्होंने पर्याप्त आर्थिक शक्ति प्राप्त कर ली। उनकी बड़ी संख्या ने भी सार्वजनिक वयस्क मताधिकार पर आधारित चुनावी लोकतंत्र के इस युग में उन्हें राजनीतिक शक्ति प्रदान की। इस प्रकार, यह मध्यवर्ती जातियाँ देहाती इलाकों में प्रबल जातियाँ बन गईं और क्षेत्रीय राजनीति तथा कृषिक अर्थव्यवस्था में निर्णायक भूमिका अदा करने लगीं। इन प्रबल जातियों के कुछ उदाहरण हैं: बिहार और उत्तर प्रदेश के यादव, कर्नाटक के वोक्कलिंग, आंध्र प्रदेश के रेड्डी और खम्मा लोग, महाराष्ट्र के मराठे, पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के जाट और गुजरात के पाटीदार।

### उच्च, उच्च मध्यम वर्ग में जाति प्रथा का ढीला पड़ना

समकालीन दौर में जाति व्यवस्था में हुए अत्यंत महत्वपूर्ण फिर भी विरोधाभासी परिवर्तनों में से एक परिवर्तन यह है कि अब जाति व्यवस्था उच्च जातियों, नगरीय मध्यम और उच्च वर्गों के लिए 'अदृश्य' होती जा रही है। इन समूहों के लिए, जो स्वातंत्र्योत्तर काल की विकासात्मक नीतियों से सर्वाधिक लाभान्वित हुए हैं, जातीयता का महत्व सचमुच कम हो गया प्रतीत होता है क्योंकि अब इसका कार्य भलीभाँति संपन्न हो चुका है। इन समूहों की जातीय प्रस्थिति यह सुनिश्चित करने के लिए निर्णायक रही है कि इन समूहों को तीव्र विकास द्वारा प्रदत्त अवसरों का पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए आवश्यक आर्थिक तथा शैक्षिक संसाधन उपलब्ध हों। खासतौर पर, ऊँची जातियों के संप्रांत लोग आर्थिक सहायता प्राप्त सार्वजनिक शिक्षा, विशेष रूप से विज्ञान, प्रौद्योगिकी, आयुर्विज्ञान तथा प्रबंधन में व्यावसायिक शिक्षा से लाभान्वित होने में सफल हुए। इसके साथ-साथ, वे स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के प्रारंभिक दशकों में राजकीय क्षेत्र की नौकरियों में हुए विस्तार का भी लाभ उठा सकें। इस प्रारंभिक अवधि में, शेष समाज की तुलना में उनकी अग्रणी स्थिति (शिक्षा की दृष्टि से) ने यह सुनिश्चित कर दिया कि उन्हें किसी गंभीर प्रतिस्पर्धा का सामना नहीं करना पड़ा। उनकी दूसरी तथा तीसरी पीढ़ियों में जब उनकी विशेषाधिकार प्राप्त प्रस्थिति और सुदृढ़ हो गई तब इन समूहों को यह विश्वास होने लगा कि उनकी प्रगति का जाति से कोई ज्यादा लेना-देना नहीं था। निश्चित रूप से, इन समूहों की तीसरी पीढ़ियों के लिए उनकी आर्थिक तथा शैक्षिक पूँजी अकेले ही यह सुनिश्चित करने के लिए पूर्णतः पर्याप्त है कि उन्हें जीवन में सर्वोत्तम अवसर प्राप्त होते रहेंगे। इस समूह के लिए, सार्वजनिक जीवन में जाति की कोई भूमिका नहीं रही है, वह धार्मिक रीति-रिवाज, विवाह अथवा नातेदारी के व्यक्तिगत क्षेत्र तक ही सीमित है। किंतु, यह एक विशिष्टीकृत या विभेदित समूह है और इस तथ्य ने आगे एक और जटिलता उत्पन्न कर दी है। यद्यपि विशेषाधिकार या सुविधा प्राप्त इस समूह में ऊँची जाति के लोगों का ही बाहुल्य है, लेकिन नीची जातियों के सभी लोगों को यह सुविधा प्राप्त नहीं है, उनमें से कुछ लोग गरीब भी हैं।

जहाँ तक तथाकथित अनुसूचित जातियों और जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों का संबंध है, उनके लिए तो उपर्युक्त से विपरीत स्थिति ही घटित हुई है। उनके लिए, जाति और अधिक सुदृश्य हो गई, निस्संदेह उनकी जाति ने उनकी पहचान के अन्य सभी आयामों को ग्रस लिया है। क्योंकि उन्हें विरासत में कोई शैक्षिक और सामाजिक पूँजी नहीं मिली है और उन्हें पहले से संस्थापित उच्च जाति समूह के साथ प्रतिस्पर्धा में उतरना पड़ रहा है। इसलिए वे अपनी जातीय पहचान को नहीं छोड़ सकते, क्योंकि यह उनकी बहुत थोड़ी सी सामूहिक परिसंपत्तियों में से एक है। इसके आगे, वे अभी भी विभिन्न प्रकार के भेदभाव के शिकार हैं। आरक्षण की नीतियाँ और राजनीतिक दबाव में आकर राज्य द्वारा उन्हें दिए गए अन्य संरक्षण ही उनके जीवन को बचाने वाले उपाय हैं। परंतु इन जीवन रक्षक साधनों का उपयोग करना ही उनकी जाति को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बना देता है और अक्सर यही उनकी पहचान का वह पक्ष होता है जिसे दुनिया मान्यता देती है।

इस प्रकार जाति रहित प्रतीत होने वाला उच्च जातीय समूह और प्रत्यक्ष रूप से जाति परिभाषित निम्न जातीय समूह इन दोनों समूहों का सन्निधान (पास-पास होना) ही आज की जाति संस्था का एक केंद्रीय पक्ष है।

### जाति: एक भेदभावपूर्ण व्यवस्था

जाति व्यवस्था एक विशिष्ट भारतीय सामाजिक संस्था है जो विशेष जातियों में पैदा हुए व्यक्तियों के विरुद्ध भेदभावपूर्ण व्यवहार को लागू करती है एवं न्यायसंगत ठहराती है। भेदभाव के यह व्यवहार अपमानजनक, बहिष्कारी तथा शोषणकारी हैं।

ऐतिहासिक रूप से, जाति व्यवस्था व्यक्तियों का उनके व्यवसाय तथा प्रस्थिति के आधार पर वर्गीकरण करती थी। प्रत्येक जाति एक व्यवसाय से जुड़ी थी; इसका तात्पर्य है कि एक विशेष जाति में जन्मा व्यक्ति उस व्यवसाय में भी 'जन्म लेता' था जो उसकी जाति से जुड़ा था-उसके पास कोई विकल्प नहीं था। इसके अतिरिक्त, शायद इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रत्येक जाति का सामाजिक प्रस्थिति या हैसियत के अधिक्रम में एक विशेष स्थान भी होता था। अतः मोटेतौर पर कहा जा सकता है कि सिर्फ सामाजिक प्रस्थिति के अनुसार ही व्यावसायिक श्रेणियाँ श्रेणीबद्ध नहीं थीं, बल्कि प्रत्येक बृहत व्यावसायिक श्रेणी के अंदर पुनः श्रेणीक्रम था। हालाँकि वास्तविक ऐतिहासिक व्यवहार में सामाजिक तथा आर्थिक प्रस्थिति एक दूसरे के अनुरूप होती थी। अतः स्पष्टतया सामाजिक (जैसे, जाति) तथा आर्थिक हैसियत में घनिष्ठ संबंध था-‘उच्च’ जातियाँ प्रायः निर्विवाद रूप से उच्च आर्थिक प्रस्थिति की थीं, जबकि ‘निम्न’ जातियाँ प्रायः निम्न आर्थिक स्थिति की होती थीं।

आधुनिक काल में, विशेष रूप से 19वीं सदी से, जाति तथा व्यवसाय के बीच के संबंध काफी ढीले हुए हैं। व्यावसायिक परिवर्तन संबंधित आनुष्ठानिक-धार्मिक प्रतिबंध आज उतनी आसानी से नहीं लागू किए जा सकते हैं, तथा पहले की अपेक्षा अब व्यवसाय परिवर्तन आसान हो गया है। इसके अतिरिक्त, सौ या पचास वर्ष पहले की तुलना में, जाति तथा आर्थिक स्थिति के सहसंबंध कमजोर हुए हैं। आज अमीर तथा गरीब लोग हर जाति में पाए जाते हैं। लेकिन मुख्य बात यह है कि जाति-वर्ग का परस्पर संबंध वृहत स्तर पर अभी भी पूरी तरह कायम है। व्यवस्था के थोड़ा कम सख्त होने पर मोटेतौर पर समान सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति वाली जातियों के बीच का फासला कम हुआ है। परंतु विभिन्न सामाजिक-आर्थिक समूहों के बीच जातीय अंतर अभी भी बना हुआ है।

यद्यपि समाज निश्चित रूप से बदला है, लेकिन व्यापक स्तर पर बहुत ज्यादा परिवर्तन नहीं हुआ है। यह आज भी सच है कि समाज का साधन-संपन्न व ऊँचे ओहदे वाले वर्ग में अत्यधिक कथित ‘उच्च’ जाति के लोग हैं। जबकि वंचित (तथा निम्न आर्थिक स्थिति वाले) वर्ग में कथित ‘निम्न’ जातियों की प्रधानता है। इसके अतिरिक्त, कथित ‘ऊँची’ व ‘नीची’ जातियों के गरीब और संपन्न तबकों के अनुपात में जमीन-आसमान का फर्क है। (तालिका 1 और 2 देखें)। संक्षेप में कहें तो यह सच है कि एक सदी से चल रहे सामाजिक आंदोलनों ने कई महत्वपूर्ण परिवर्तन किए, उत्पादन व्यवस्था में भारी बदलाव आए तथा साथ ही स्वतंत्र भारत की राजसत्ता ने सार्वजनिक क्षेत्र में जाति पर अंकुश लगाने की भरपूर कोशिश की। लेकिन इन परस्पर प्रयत्नों के बावजूद 21वीं सदी में भी जाति भारतीयों के जीवन अवसरों को सतत प्रभावित कर रही है।

### गरीबी रेखा से नीचे की जनसंख्या का प्रतिशत, 1999-2000

जाति एवं समुदाय समूह	ग्रामीण भारत	नगरीय भारत
अनुसूचित जनजातियाँ	45.8	35.6
अनुसूचित जातियाँ	35.9	38.3
अन्य पिछड़ा वर्ग	27.0	29.5
उच्च जाति मुसलमान	26.8	34.2
उच्च जाति हिंदू	11.7	9.8
उच्च जाति ईसाई	9.6	5.4
उच्च जाति सिख	0.0	4.9
उच्च अन्य जातियाँ	16.0	2.7
सभी समूह	27.0	23.4

नोट: ‘उच्च जातियाँ’ अर्थात् अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति/अन्य पिछड़ा वर्ग नहीं।

स्रोत: एन. एस. एस. ओ. 55वें चक्र (1999-2000) इकाई स्तर के आँकड़े सी. डी. पर उपलब्ध



## समृद्ध जनसंख्या का प्रतिशत, 1999-2000

जाति एवं समुदाय समूह	ग्रामीण भारत	नगरीय भारत
	1000 रु. या अधिक प्रति व्यक्ति प्रति माह व्यय	2000 रु. या अधिक प्रति व्यक्ति प्रति माह व्यय
अनुसूचित जनजातियाँ	1.4	1.8
अनुसूचित जातियाँ	1.7	0.8
अन्य पिछड़ा वर्ग	3.3	2.0
उच्च जाति मुसलमान	2.0	1.6
उच्च जाति हिंदू	8.6	8.2
उच्च जाति ईसाई	18.9	17.0
उच्च जाति सिख	31.7	15.1
उच्च अन्य जातियाँ	17.9	14.4
सभी समूह	4.3	4.5

नोट: 'उच्च जातियाँ' अर्थात् अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति/अन्य पिछड़ा वर्ग नहीं।  
 स्रोत: एन. एस. एस. ओ. 55वें चक्र (1999-2000) इकाई स्तर के आँकड़े सी. डी. पर उपलब्ध।

### अस्पृश्यता

'अस्पृश्यता' जिसे आम बोलचाल में 'छुआछूत' कहा जाता है, जाति-व्यवस्था का एक अत्यंत घृणित एवं दूषित पहलू है, जो धार्मिक एवं कर्मकांडीय दृष्टि से शुद्धता एवं अशुद्धता के पैमाने पर सबसे नीची मानी जाने वाली जातियों के सदस्यों के विरुद्ध अत्यंत कठोर सामाजिक अनुशास्त्रियों (दंडों) का विधान करता है। सच पूछिए तो 'अस्पृश्य' यानी अछूत मानी जाने वाली जातियों का जाति सोपान या अधिक्रम में कोई स्थान ही नहीं है, वे तो इस व्यवस्था से बाहर हैं। उन्हें तो इतना अधिक 'अशुद्ध' एवं अपवित्र माना जाता है कि उनके जरा छू जाने भर से ही अन्य सभी जातियों के सदस्य अत्यंत अशुद्ध हो जाते हैं, जिसके कारण अछूत कहे जाने वाले व्यक्ति को तो अत्यधिक कठोर दंड भुगतना पड़ता ही है, साथ ही उच्च जाति का जो व्यक्ति छुआ गया है उसे भी फिर से शुद्ध होने के लिए कई शुद्धीकरण क्रियाएँ करनी होती हैं। सच तो यह है कि भारत के कई क्षेत्रों (विशेष रूप से दक्षिण भारत) में 'दूर से अशुद्धता' की धारणा विद्यमान थी जिसके अनुसार 'अछूत' समझे जाने वाले व्यक्ति की उपस्थिति अथवा छाया ही अशुद्ध समझी जाती थी। इस शब्द का आक्षरिक अर्थ सीमित होने के बावजूद, 'अस्पृश्यता' की संस्था शारीरिक संपर्क से बचने या अछूत से दूर रहने का आदेश तो देती ही है, साथ ही तथाकथित अछूत के लिए कई सामाजिक अनुशास्त्रियों की व्यवस्था भी करती है।

**यहाँ यह बता देना महत्वपूर्ण है कि अस्पृश्यता के तीन मुख्य आयाम हैं-**

1. अपवर्जन या बहिष्कार
2. अनादर
3. अधीनता और शोषण।

इस प्रघटना को परिभाषित करने के लिए ये तीनों आयाम समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि अन्य (यानी 'स्पृश्य' मानी जाने वाली) नीची जातियों को भी कुछ हद तक अधीनता और शोषण का सामना करना पड़ता है, लेकिन उन्हें बहिष्कार का उतना चरम रूप नहीं सहना पड़ता जो कि 'अछूतों' के लिए आरक्षित है। दलितों को तो बहिष्कार के इतने भयंकर रूप भुगतने पड़ते हैं जो और समूहों को नहीं सहने पड़ते। उदाहरण के लिए, उन्हें पेयजल के सामान्य स्रोतों से पानी नहीं लेने दिया जाता, उनके कुएँ, हैंडपंप, घाट आदि अलग होते हैं वे सामूहिक धार्मिक पूजा-आराधना, सामाजिक समारोहों और त्योहारों-उत्सवों में भाग नहीं ले सकते। साथ ही, उनसे अनेक छोटे काम जोर-जबरदस्ती से कराए जाते हैं जैसे, किसी धार्मिक उत्सव पर ढोल-नगाड़े बजाना। अनादर और अधीनतासूचक अनेक कार्य सार्वजनिक रूप से कराना अस्पृश्यता की प्रथा का एक महत्वपूर्ण अंग है। उन्हें तथाकथित ऊँची जातियों के लोगों के प्रति जबरदस्ती सम्मान प्रदर्शित करने के लिए अनिच्छापूर्वक कई व्यवहार करने पड़ते हैं जैसे, टोपी या पगड़ी उतारना, पहने हुए जूतों को उतारकर हाथ में पकड़कर ले



जाना, सिर झुकाकर खड़े रहना; एकदम साफ़ या चमचमाते हुए कपड़े नहीं पहनना आदि-आदि। इसके अलावा, अपशब्द सुनना और अपमान सहना तो उनका रोजमर्रा का काम है।

इसके अतिरिक्त तरह-तरह का आर्थिक शोषण तो मानो इस अस्पृश्यता की कुरीति के साथ सदा से ही जुड़ा है। उन्हें आमतौर पर 'बेगार' करनी पड़ती है जिसके लिए उन्हें कोई पैसा नहीं दिया जाता या बहुत कम मजदूरी दी जाती है। कभी-कभी तो उनकी संपत्ति छीन ली जाती है। संक्षेप में, अस्पृश्यता एक अखिल भारतीय प्रघटना है, हालाँकि उसके विशिष्ट रूपों एवं गहनताओं में विभिन्न क्षेत्रों तथा सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भों में काफी अधिक अंतर होता है।

इन तथाकथित 'अस्पृश्यों' को पिछली अनेक शताब्दियों से सामूहिक रूप से भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता रहा है इन नामों की अपनी व्युत्पत्ति कुछ भी हो, और इनका मूल अर्थ चाहे कुछ भी रहा हो पर अब वे सब अत्यंत अपमानसूचक एवं निंदात्मक हैं। सच तो यह है कि उनमें से अनेक शब्द तो आज भी गाली के तौर पर इस्तेमाल किए जाते हैं हालाँकि, आज उनका प्रयोग एक दंडनीय अपराध माना जाता है। महात्मा गाँधी ने इन जाति नामों के निंदात्मक आरोप को दूर करने के लिए, 1930 के दशक में उन्हें 'हरिजन' (जिसका शाब्दिक अर्थ 'परमात्मा के बच्चे' हैं) कहकर पुकारना शुरू किया; यह काफी लोकप्रिय हुआ।

किंतु, भूतपूर्व अस्पृश्य समुदायों और उनके नेताओं ने एक दूसरा शब्द 'दलित' गढ़ा, जो इन सभी समूहों का उल्लेख करने के लिए अब आमतौर पर स्वीकार कर लिया गया है। भारतीय भाषाओं में, दलित शब्द का आक्षरिक अर्थ है 'पैरों से कुचला हुआ' और यह उत्पीड़ित लोग के भाव का द्योतक है। यह शब्द न तो डॉक्टर अंबेडकर द्वारा गढ़ा गया था और न ही अक्सर उनके द्वारा इसका प्रयोग किया गया था, पर इसमें उनका चिंतन तथा दर्शन एवं उनके उस आंदोलन का मूल भाव निश्चित रूप से गुंजायमान है जो उनके नेतृत्व में दलितों को सशक्त बनाने के लिए चलाया गया था। 1970 के दशक में मुंबई में हुए जातीय दंगों के दौरान इस शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक रूप से किया गया। उस समय पश्चिमी भारत में 'दलित पैथर्स' नाम का जो उग्र समूह उभरा, उसने अपने अधिकारों तथा मान-मर्यादा के लिए चलाए गए संघर्ष के अंतर्गत अपनी अलग पहचान बनाने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया।

### **अन्य पिछड़े वर्ग**

अस्पृश्यता सामाजिक भेदभाव का सर्वाधिक स्पष्ट एवं व्यापक रूप था। किंतु, जातियों का एक काफी बड़ा समूह ऐसा भी था जिन्हें नीचा समझा जाता था। उनके साथ तरह-तरह का भेदभाव भी बरता जाता था पर उन्हें अछूत नहीं माना जाता था। ये सेवा करने वाली शिल्पी (कारीगर) जातियों के लोग थे जिन्हें जाति-सोपान में नीचा स्थान प्राप्त था। भारत के संविधान में इस संभावना को स्वीकार किया गया है कि अनुसूचित जनजातियों और अनुसूचित जातियों के अलावा और भी कई समूह हो सकते हैं जो सामाजिक असुविधाओं से पीड़ित हैं। ऐसे समूहों का जाति पर आधारित होना जरूरी नहीं है, लेकिन वे आमतौर पर किसी जाति के नाम से ही पहचाने जाते हैं। इन समूहों को 'सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्ग' कहा गया है। यह आम बोलचाल में प्रचलित 'अन्य पिछड़े वर्ग' शब्द का संवैधानिक आधार है, जो आजकल सामान्य रूप से प्रयोग किया जाता है।

**'अन्य पिछड़े वर्गों' को भी नकारात्मक रूप से यानी वे क्या 'नहीं हैं' इसके आधार पर परिभाषित किया जाता है।** वे न तो जाति-क्रम में 'अगड़ी' कही जाने वाली ऊंची जातियों के हिस्से हैं और न ही वे निम्नतम सोपान पर स्थित दलितों में आते हैं। लेकिन चूँकि जाति हिंदू धर्म तक ही सीमित नहीं रही है, बल्कि सभी प्रमुख भारतीय धर्मों में घुस आई है, इसलिए अन्य धर्मों में भी पिछड़ी जातियाँ पाई जाती हैं तथा इनकी भी समान परंपरागत व्यावसायिक पहचान होती है और इनकी सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति भी वैसी ही अथवा उनसे भी बदतर होती है।

इन्हीं कारणों से अन्य पिछड़े वर्ग, दलितों अथवा आदिवासियों की तुलना में अधिक विविधतापूर्ण समूह हैं। जवाहरलाल नेहरू के प्रधानमंत्रित्व में स्वतंत्र भारत की पहली सरकार ने अन्य पिछड़े वर्गों के कल्याण के उपाय सुझाने के लिए एक आयोग स्थापित किया था। काका कालेलकर की अध्यक्षता में नियुक्त प्रथम पिछड़े वर्ग आयोग ने 1953 में अपनी रिपोर्ट पेश की थी। लेकिन उस समय के राजनीतिक वातावरण को देखते हुए इस रिपोर्ट को ठंडे बस्ते में डाल दिया गया।

पाँचवें दशक के मध्य से अन्य पिछड़े वर्गों का मुद्दा क्षेत्रीय मामला बन गया और इस पर केंद्रीय स्तर की बजाय राज्य स्तर पर कार्यवाही की जाती रही।

### **अन्य पिछड़ा वर्ग आंदोलन का उभार एवं उपलब्धियाँ**

दक्षिणी राज्यों में पिछड़ी जातियों के राजनीतिक आंदोलनों का लंबा इतिहास रहा है, जो वहाँ बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में शुरू हो गए थे। इन शक्तिशाली सामाजिक आंदोलनों के कारण अन्य पिछड़े वर्गों की समस्याओं पर ध्यान देने की नीतियाँ वहाँ, अधिकांश उत्तरी राज्यों में चर्चित होने से पहले ही अपनाई जाने लगी थीं। अन्य पिछड़े वर्गों का मुद्दा केंद्रीय स्तर पर 1970 के दशक के आखिरी वर्षों में तब फिर से उठ खड़ा हुआ जब आपातकाल (इमरजेंसी) के बाद जनता पार्टी ने शासन की बागडोर संभाली। उस समय बी. पी. मंडल की अध्यक्षता में दूसरा पिछड़े वर्ग आयोग नियुक्त किया गया। किंतु आगे चलकर जब 1990 में केंद्रीय सरकार ने मंडल आयोग की दस वर्ष पुरानी रिपोर्ट को कार्यान्वित करने का निर्णय लिया तभी अन्य पिछड़े वर्ग का मुद्दा राष्ट्रीय राजनीति में एक प्रमुख विषय बन गया।

1990 के दशक से हमें उत्तर भारत में अन्य पिछड़े वर्गों और दलितों दोनों में ही निचली जातियों के आंदोलनों में फिर से तेजी दिखाई दी। अन्य पिछड़े वर्गों के मुद्दे के राजनीतिकरण से यह संभावना बढ़ गई कि उनकी बड़ी भारी संख्या को राजनीतिक प्रभाव (यानी वोटों) में बदला जा सकता है हाल के सर्वेक्षणों से पता चलता है कि राष्ट्रीय जनसंख्या में पिछड़े वर्गों का प्रतिशत लगभग 41% है। राष्ट्रीय स्तर पर ऐसा पहले संभव नहीं था, इसीलिए कालेलकर आयोग की रिपोर्ट को ठंडे बस्ते में डाल दिया गया था और मंडल आयोग की रिपोर्ट की लंबे समय तक उपेक्षा की गई थी।

उच्च स्तर के अन्य पिछड़े वर्गों (जो अधिकतर भूमिधर जातियाँ हैं और भारत के अनेक क्षेत्रों में वहाँ के ग्रामीण समाज में प्रभुत्वशाली हैं) और निम्न स्तर के अन्य पिछड़े वर्गों (जो बहुत ही गरीब और सुविधाबंचित लोग हैं और अक्सर सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से दलितों से बहुत भिन्न नहीं हैं) के बीच पाई जाने वाली घोर विषमताओं ने इस राजनीतिक श्रेणी की समस्याओं से निपटना बहुत कठिन बना दिया है। तथापि भूधारण और राजनीतिक प्रतिनिधित्व को छोड़कर (जहाँ उनके विधायकों तथा सांसदों की संख्या काफी बढ़ी है), बाकी सभी कार्यक्षेत्रों में अन्य पिछड़े वर्गों का प्रतिनिधित्व काफी कम है। यद्यपि उच्च स्तर के अन्य पिछड़े वर्ग ग्रामीण क्षेत्र में अपना प्रभुत्व बनाए हुए हैं, लेकिन नगरीय अन्य पिछड़े वर्गों की स्थिति काफी खराब है, यानी उनकी स्थिति ऊँची जातियों की बजाय काफी हद तक अनुसूचित जातियों और जनजातियों जैसी ही है।

## **2. जनजातीय समुदाय**

### **जनजाति क्या है?**

‘जनजाति’ एक आधुनिक शब्द है जो ऐसे समुदायों के लिए प्रयुक्त होता है जो बहुत पुराने हैं और उप-महाद्वीप के सबसे पुराने अधिवासी हैं। भारत में जनजातियों की परिभाषा नकारात्मक शब्दों में अर्थात् वे क्या नहीं हैं यह बताकर की जाती है। जनजातियाँ ऐसे समुदाय थे जो किसी लिखित धर्मग्रंथ के अनुसार किसी धर्म का पालन नहीं करते थे उनका कोई सामान्य प्रकार का राज्य या राजनीतिक संगठन नहीं था; उनके समुदाय कठोर रूप में वर्गों में नहीं बँटे हुए थे और सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि उनमें जाति जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी; न वे हिंदू थे और न ही किसान। ‘जनजाति’ शब्द का प्रयोग औपनिवेशिक युग में प्रारंभ किया गया था। समुदायों के एक अत्यंत विषम समुच्चय के लिए एक अकेले शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से ही किया गया था।

### **जनजातीय समाजों का वर्गीकरण**

जहाँ तक सकारात्मक विशिष्टताओं का संबंध है, जनजातियों को उनके 'स्थायी' तथा 'अर्जित' विशेषकों के अनुसार विभाजित किया गया है।

## स्थायी विशेषक

### क्षेत्रवार जनसंख्या वितरण

स्थायी विशेषकों या लक्षणों में क्षेत्र, भाषा, शारीरिक विशिष्टताएँ और पारिस्थितिक आवास शामिल हैं। भारत की जनजातीय जनसंख्या व्यापक रूप से बिखरी हुई है लेकिन कुछ क्षेत्रों में उनकी आबादी काफी घनी है। जनजातीय जनसंख्या का लगभग 85 % भाग 'मध्य भारत' में रहता है जो पश्चिम में गुजरात तथा राजस्थान से लेकर पूर्व में पश्चिम बंगाल और उड़ीसा तक फैला हुआ है और जिसके हृदय-स्थल (मध्य भाग) में मध्य प्रदेश, झारखंड, छत्तीसगढ़ और महाराष्ट्र तथा आंध्र प्रदेश के कुछ भाग स्थित हैं। जनजातीय जनसंख्या के शेष 15% में से 11% से अधिक पूर्वोत्तर राज्यों में और बाकी के 3% से थोड़े-से अधिक शेष भारत में रहते हैं। यदि हम राज्य की जनसंख्या में जनजातियों के हिस्से पर दृष्टिपात करें तो पाएँगे कि पूर्वोत्तर राज्यों में इनकी आबादी सबसे घनी है वहाँ असम को छोड़कर सभी राज्यों में उनका घनत्व 30% से अधिक है और अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मिजोरम और नागालैंड जैसे कुछ राज्यों में तो जनजातीय आबादी 60% से अधिक और 95% तक है। किंतु, देश के शेष भागों में जनजातीय जनसंख्या बहुत छोटी है यानी उड़ीसा और मध्य प्रदेश को छोड़कर शेष सभी राज्यों में 12% से कम है।

### आवास

इनके पारिस्थितिक आवासों में पहाड़ियाँ, वन, ग्रामीण मैदान और नगरीय औद्योगिक इलाके शामिल हैं।

## भारत की प्रमुख जनजातियाँ

क्षेत्र / राज्य	जनजाति
उत्तर-पूर्व भारत	नागा, मीजो, लेप्चा, गद्दी, खासी, जयंतिया, अंगामी, कोन्याक, राजी, भोटिया, थारू आदि
पश्चिम भारत	सहरिया, झील, गिरिसिया, रेवारी, डांग, मीणा, वली आदि
मध्य भारत	मुंडा, ओराँव, संथाल, गोंड, ही, चैंचू, विरहोर, भूमिंग, खोड़ा आदि।
दक्षिण भारत	इरुली, टोडा, बादगी, पलियाम, चोलाकियन आदि।
अण्डमान निकोबार एवं लक्षद्वीप समूह	अण्डमानी, जरवा, ओंग, सेंटैनैलिज, सोम्पेन, निकोबारी आदि।

भाषा की दृष्टि से, जनजातियों को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है। इनमें से दो श्रेणियों अर्थात् भारतीय-आर्य और द्रविड़ परिवार की भाषाएँ शेष भारतीय जनसंख्या द्वारा भी बोली जाती हैं और जनजातियों में से लगभग 1% लोग ही भारतीय आर्य परिवार की भाषाएँ और लगभग 3% लोग द्रविड़ परिवार की भाषाएँ बोलते हैं। दो अन्य भाषा समूह, आस्ट्रिक और तिब्बती-बर्मी, प्राथमिक रूप से जनजातीय लोगों द्वारा बोले जाते हैं, जिनमें से आस्ट्रिक परिवार की भाषाएँ पूर्ण रूप से जनजातीय लोगों द्वारा और तिब्बती-बर्मी परिवार की भाषाएँ 80% से अधिक जनजातियों द्वारा ही बोली जाती हैं। शारीरिक-प्रजातीय दृष्टि से, जनजातियों का नीग्रिटो, आस्ट्रैलॉइड, मंगोलॉइड, द्रविड़ और आर्य श्रेणियों में वर्गीकरण किया गया है। भारत की जनसंख्या का शेष भाग भी द्रविड़ और आर्य श्रेणियों के अंतर्गत आता है।

### जनसंख्या आकार

जनसंख्या के आकार की दृष्टि से, जनजातियों में बहुत अधिक अंतर पाया जाता है, सबसे बड़ी जनजाति की जनसंख्या लगभग 70 लाख है जबकि सबसे छोटी जनजाति यानी अंडमान द्वीपवासियों की जनसंख्या शायद 100 व्यक्तियों से भी कम है। सबसे बड़ी जनजातियाँ गोंड, भील, संथाल, ओराँव, मीना, बोडो और मुंडा हैं, इनमें से सभी की जनसंख्या

कम-से-कम दस लाख है। जनजातियों की कुल जनसंख्या 2011 की जनगणना के अनुसार भारत की समस्त जनसंख्या का लगभग 8.2 या लगभग 8.4 करोड़ व्यक्ति है।

### **अर्जित विशेषक**

अर्जित विशेषकों पर आधारित वर्गीकरण दो मुख्य कसौटियों आजीविका के साधन और हिंदू समाज में उनके समावेश की सीमा अथवा दोनों के सम्मिश्रण पर आधारित है। आजीविका के आधार पर, जनजातियों को मछुआ, खाद्य संग्राहक और आखेटक (शिकारी), झूम खेती करने वाले, कृषक और बागान तथा औद्योगिक कामगारों की श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। लेकिन सबसे प्रभावी वर्गीकरण इस बात पर आधारित है कि हिंदू समाज में अमुक जनजाति को कहाँ तक आत्मसात् किया गया है। इस आत्मसात्करण को जनजातियों के दृष्टिकोण से अथवा (जैसाकि अक्सर होता है) प्रबल हिंदू मुख्यधारा के दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। जनजातियों के दृष्टिकोण से, आत्मसात्करण की सीमा के अलावा, हिंदू समाज के प्रति अभिवृत्ति (रुख) भी एक बड़ी कसौटी है क्योंकि जनजातियों की अभिवृत्तियों के बीच काफी अंतर होता है। कुछ जनजातियों का हिंदुत्व की ओर सकारात्मक झुकाव होता है जबकि कुछ जनजातियाँ उसका प्रतिरोध या विरोध करती हैं। मुख्यधारा के दृष्टिकोण से, जनजातियों को हिंदू समाज में मिली प्रस्थिति की दृष्टि से भी देखा जा सकता है जिसमें कुछ को तो ऊँचा स्थान दिया जाता है पर अधिकांश को आमतौर पर नीचा स्थान ही मिलता है।

## **मुख्यधारा के समुदायों का जनजातियों के प्रति रवैया**

### **औपनिवेशिक काल में जनजातियों की दशा**

हालाँकि, औपनिवेशिक युग की प्रारंभिक मानव वैज्ञानिक कृतियों में जनजातियों को पृथक संस्कृत समुदायों के रूप में वर्णित किया गया था, लेकिन उपनिवेशवाद उनकी दुनिया में पहले ही अटल परिवर्तन ला चुका था। राजनीतिक और आर्थिक मोर्चे पर, जनजातीय समाजों को पैसा उधार देने वाले तथाकथित साहूकारों की घुसपैठ का सामना करना पड़ रहा था। साथ ही, वे गैर-जनजातीय अप्रवासी, एक जगह पर बस जाने वाले लोगों के हाथों अपनी जमीनें खोते जा रहे थे और वनों के आरक्षण की सरकारी नीति और खनन कार्यों का प्रारंभ हो जाने से वनों तक उनकी पहुँच भी खत्म होती जा रही थी। अन्य इलाकों के विपरीत, जहाँ भूमि का लगान ही अतिरिक्त आय का प्राथमिक स्रोत था, इन पहाड़ी और जंगली इलाकों में, वनों और खनिजों जैसे प्राकृतिक संसाधनों का विनियोजन ही अधिकतर औपनिवेशिक सरकार के लिए आय का प्रमुख स्रोत था। 18वीं तथा 19वीं शताब्दियों में जनजातीय इलाकों में अनेक विद्रोह हो जाने के बाद, औपनिवेशिक सरकार ने 'अपवर्जित' (excluded) और 'आंशिक रूप से अपवर्जित' (partially excluded) इलाके निर्धारित घोषित कर दिए जहाँ गैर-जनजातीय लोगों का प्रवेश पूरी तरह निषिद्ध या विनियमित था। इन इलाकों में, ब्रिटिश सरकार स्थानीय राजाओं या मुखियाओं के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से शासन चलाने के पक्ष में थी।

### **पृथक्करण बनाम एकीकरण, समकालीन जनजाति संकल्पना**

1940 के दशक में पृथक्करण (Isolation) बनाम एकीकरण (Integration) विषय पर जो प्रसिद्ध वाद-विवाद चला वह जनजातीय समाजों की पृथक्कृत संपूर्ण अस्तित्व की मानक तस्वीर पर ही आधारित था। पृथक्तावादी पक्ष का कहना था कि जनजातीय लोगों को व्यापारियों, साहूकारों और हिंदू तथा ईसाई धर्म प्रचारकों से बचाए रखने की आवश्यकता है क्योंकि ये सभी लोग जनजातियों का अलग अस्तित्व मिटाकर उन्हें भूमिहीन श्रमिक बनाना चाहते हैं। दूसरी ओर, एकीकरणवादी पक्ष का कहना था कि जनजातीय लोग पिछड़े हुए हिंदू ही हैं और उनकी समस्याओं का समाधान उसी परिधि रूपरेखा के भीतर खोजा जाए जो अन्य पिछड़े वर्गों के मामले में निर्धारित की गई है। इस विरोधी पक्ष का संविधान सभा के वाद-विवादों में बोलबाला रहा और अंततः समझौते के तौर पर यह तय किया गया कि जनजातियों के कल्याण के लिए ऐसी योजनाएँ बनाई जाएँ जिनके माध्यम से उनका निर्यातित एकीकरण संभव हो जाए। इसलिए बाद में जनजातीय विकास की जो भी योजनाएँ बनाई गईं जैसे, पंचवर्षीय योजनाएँ, जनजातीय उप-योजनाएँ, जनजातीय कल्याण खंड, विशेष बहुप्रयोजनी क्षेत्र योजनाएँ, वे सभी इसी सोच पर आधारित रही हैं। लेकिन यहाँ बुनियादी मुद्दा यह है कि जनजातियों के एकीकरण ने उनकी अपनी आवश्यकताओं या



इच्छाओं की उपेक्षा की है, एकीकरण मुख्यधारा के समाज की शर्तों पर और उन्हीं को लाभान्वित करने के लिए होता रहा है। जनजातीय समाजों से उनकी जमीनें और वन छीन लिए गए हैं और विकास के नाम पर उनके समुदायों को छिन्न-भिन्न कर दिया गया है।

### **राष्ट्रीय विकास बनाम जनजातीय विकास (एक ज्वलन्त मुद्दा)**

‘विकास’ की अनिवार्यताओं ने जनजातियों के प्रति राज्य के रुख या अभिवृत्तियों को शासित किया है और राज्य की नीतियों को आकार दिया है। राष्ट्रीय विकास के नाम पर, विशेष रूप से नेहरू युग में, बड़े-बड़े बाँध बनाए गए, कारखाने स्थापित किए गए और खानों की खुदाई शुरू की गई। क्योंकि जनजातीय इलाके देश के खनिज-संपन्न और वनाच्छादित भागों में स्थित थे इसलिए जनजातीय लोगों को शेष भारतीय समाज के विकास के लिए अनुपात से बहुत अधिक कीमत चुकानी पड़ी। इस प्रकार के विकास से, जनजातियों की हानि की कीमत पर मुख्यधारा के लोग लाभान्वित हुए। खनिजों के दोहन और जल विद्युत संयंत्रों की स्थापना के लिए उपयुक्त स्थलों के उपयोग, जिनमें से अनेक स्थल जनजातीय इलाकों में स्थित थे, का एक आवश्यक उप-उत्पाद यह था कि जनजातीय लोगों से उनकी जमीनें छिनने की प्रक्रिया शुरू हो गई।

अधिकांश जनजातीय समुदाय वनों पर आश्रित थे, इसलिए वन छिन जाने से उन्हें भारी धक्का लगा। वनों का दोहन (कटाई) तो सुव्यवस्थित रूप से ब्रिटिश काल में ही प्रारंभ हो गया था और वह प्रवृत्ति स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी जारी रही। जमीनों पर निजी मालिकाना हक (स्वामित्व) दिए जाने से भी जनजातीय लोगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा क्योंकि उनके यहाँ समुदाय आधारित सामूहिक स्वामित्व की प्रथा थी और उसके स्थान पर नयी व्यवस्था लागू किए जाने से उन्हें हानि उठानी पड़ी। इसका सबसे हाल का एक उदाहरण नर्मदा पर बनाए जा रहे बाँधों की श्रृंखला है जहाँ अधिकांश कीमत, अर्थात् जिन लोगों को इसकी वजह से हानि हुई है, और लाभ असंगत-अनुपात में विभिन्न समुदायों और क्षेत्रों को मिल रहे हैं।

जनजातीय लोगों की घनी आबादी वाले अनेक क्षेत्रों और राज्यों को विकास के दबाव के कारण गैर-जनजातीय लोगों के भारी संख्या में अप्रवास (आकर बसने) की समस्या से भी जूझना पड़ रहा है। इससे जनजातीय समुदायों के छिन्न-भिन्न होने और दूसरी संस्कृतियों के हावी हो जाने का खतरा पैदा हो गया है। उदाहरण के लिए, झारखंड के औद्योगिक इलाकों में वहाँ की जनसंख्या में जनजातीय अनुपात कम हो गया है। लेकिन सबसे अधिक नाटकीय स्थिति संभवतः पूर्वोत्तर क्षेत्र में उत्पन्न हुई है। वहाँ त्रिपुरा जैसे राज्य की जनसंख्या में जनजातीय लोगों का अनुपात एक ही दशक में घटकर आधा रह गया, जिसके परिणामस्वरूप वे अल्पसंख्यक बन गए। अरुणाचल प्रदेश द्वारा भी ऐसा ही दबाव महसूस किया जा रहा है।

### **समकालीन जनजातीय पहचान**

मुख्यधारा की प्रक्रियाओं में जनजातीय समुदायों के बलात् समावेश का प्रभाव जनजातीय संस्कृति तथा समाज पर ही नहीं बल्कि उनकी अर्थव्यवस्था पर भी समान रूप से पड़ा है। आज जनजातीय पहचाने, उन जनजातियों की आदिम (मौलिक, प्राचीन) विशिष्टताओं जा कि सिर्फ जनजातियों की होती थी की बजाय, इस अंतःक्रियात्मक प्रक्रिया से बन रही हैं। चूँकि मुख्यधारा के साथ अंतःक्रिया आमतौर पर जनजातीय समुदायों के लिए अनुकूल शर्तों पर नहीं होती, इसलिए आज अनेक जनजातीय पहचानें गैर-जनजातीय जगत की दुर्दमनीय शक्ति का प्रतिरोध एवं विरोध करने के विचारों पर अपना ध्यान केंद्रित कर रही हैं।

एक लंबे संघर्ष के बाद झारखंड और छत्तीसगढ़ को अलग-अलग राज्य का दर्जा मिल गया है लेकिन ऐसी सफलताओं का सकारात्मक प्रभाव पहले से चली आ रही समस्याओं के कारण तिरोहित हो गया है। उदाहरण के लिए, पूर्वोत्तर क्षेत्र के अनेक राज्य कई दशकों से ऐसे विशेष कानूनों के अंतर्गत, जिनसे वहाँ के निवासियों की नागरिक स्वतंत्रताएँ सीमित हो रही हैं, अपना जीवनयापन कर रहे हैं। इस प्रकार, मणिपुर या नागालैंड जैसे राज्यों के नागरिकों को वे अधिकार प्राप्त नहीं हैं जो भारत के अन्य नागरिकों को प्राप्त हैं क्योंकि उनके राज्यों को ‘उपद्रवग्रस्त क्षेत्र’ घोषित किया जा चुका है। पहले सशस्त्र विद्रोह फिर उनके दमन के लिए सरकार द्वारा उठाए गए कठोर कदम और फिर उनसे भड़के विद्रोहों के दुश्चक्र ने

पूर्वोत्तर राज्यों की अर्थव्यवस्था, संस्कृति और समाज को भारी हानि पहुँचाई है। देश के एक अन्य भाग में झारखंड और छत्तीसगढ़ को अपने नवार्जित राज्यत्व का अभी पूरा-पूरा उपयोग करना है और वहाँ की राजनीतिक व्यवस्था अभी तक बड़ी संरचनाओं के शिकंजे से निकलकर, जिनमें जनजातीय लोग शक्तिहीन हैं, स्वायत्त नहीं हुई हैं।

**प्र. जनजातीय समाज के भीतर एक मध्यवर्ग का प्रादुर्भाव हो रहा है जो, अपनी जनजातियाँ पहचान को सुरक्षित रखने के आग्रह हेतु आतुर है? टिप्पणी**

एक अन्य महत्वपूर्ण विकास जनजातीय समुदायों में शनैः-शनैः एक शिक्षित मध्य वर्ग का उद्भव है। पूर्वोत्तर राज्यों में तो यह वर्ग सर्वाधिक दृष्टिगोचर हो रहा है, लेकिन अब यह देश के अन्य भागों में भी, विशेषकर बड़े जनजातीय समुदायों के सदस्यों में साफ़ दिखाई देने लगा है। आरक्षण की नीतियों के साथ मिलकर (जिनके बारे में आप पाँचवें अध्याय में कुछ अधिक जान सकेंगे), शिक्षा एक नगरीकृत व्यावसायिक वर्ग का निर्माण कर रही है। ज्यों-ज्यों जनजातीय समाजों में अधिकाधिक अंतर बढ़ता जाएगा अर्थात् उनके भीतर वर्गों एवं विभाजनों का विकास होता जाएगा, त्यों-त्यों जनजातीय पहचान का दावा किए जाने के लिए भिन्न-भिन्न आधार विकसित होते चले जाएँगे।

दो प्रकार के मुद्दों ने जनजातीय आंदोलनों को तूल देने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। एक प्रकार के मुद्दे वे हैं जो भूमि तथा विशेष रूप से वनों जैसे अत्यंत महत्वपूर्ण आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण से संबंधित हैं और दूसरे प्रकार के मुद्दों का संबंध नृजातीय-सांस्कृतिक पहचान के मामलों से है। यह दो मुद्दे अक्सर साथ-साथ चल सकते हैं, परंतु जनजातीय समाज में विभिन्नताएँ होने से ये अलग-अलग भी हो सकते हैं। जनजातीय समाजों में मध्यवर्गीय लोगों द्वारा अपनी जनजातीय पहचान का दावा किए जाने के कारण उन कारणों से भिन्न हो सकते हैं जिनके लिए गरीब और अशिक्षित जनजातीय लोग जनजातीय आंदोलनों में हिस्सा लेते हैं। जैसाकि किसी भी अन्य समुदाय के साथ होता है, इस प्रकार की आंतरिक गतिशीलताओं और बाह्य शक्तियों के बीच के संबंध ही इनके भविष्य को रूप प्रदान करेंगे।





### आदिवासी संघर्ष एवं इनकी उपलब्धियाँ

अनुसूचित जातियों की तरह ही, अनुसूचित जनजातियों को भी भारतीय संविधान द्वारा विशेष रूप से निर्धनता, शक्तिहीनता तथा सामाजिक लांछन से पीड़ित समाजिक समूह के रूप में पहचाना गया है। आदिवासियों के मामले में, उनकी आबादी के एक इलाके से दूसरे इलाके में आने जाने से हालात और भी उलझ गए हैं। आज, पूर्वोत्तर राज्यों को छोड़कर, देश में ऐसा कोई इलाका नहीं है जहाँ केवल जनजातीय लोग ही रहते हों सिर्फ ऐसे इलाके हैं जहाँ जनजातीय लोगों का जमावड़ा अधिक है। यानी उनकी आबादी घनी है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से अब तक बहुत-से गैर-जनजातीय लोग ममय भारत के जनजातीय जिलों में जा बसे हैं और उन्हीं जिलों के जनजातीय लोग भी रोजगार की तलाश में बागानों, खानों, कारखानों तथा रोजगार के अन्य स्थलों में चले गए हैं।

जिन इलाकों में जनजातीय लोगों की आबादी घनी है, वहाँ आमतौर पर उनकी आर्थिक और सामाजिक हालत, गैर-जनजातीय लोगों की अपेक्षा, कहीं बदतर है। गरीबी और शोषण की जिन परिस्थितियों में आदिवासी अपना गुजर-बसर करने के लिए मजबूर हैं, उनका ऐतिहासिक कारण यह रहा कि औपनिवेशिक ब्रिटिश सरकार ने तेजी से जंगलों के संसाधनों को निकालना शुरू कर दिया और यह सिलसिला आगे स्वतंत्र भारत में भी जारी रहा। उन्नीसवीं सदी के परवर्ती दशकों से लेकर आगे भी औपनिवेशिक सरकार ने अधिकांश वन-प्रदेश अपने उपयोग के लिए आरक्षित कर लिए और आदिवासियों को वहाँ की उपज इकट्ठी करने और झूम खेती के लिए उनका उपयोग करने के अधिकारों से वंचित कर दिया।

फिर तो इमारती लकड़ी का अधिकाधिक उत्पादन करने के लिए ही वनों का संरक्षण किया जाने लगा। इस नीति के चलते, आदिवासियों से उनकी आजीविका के मुख्य आधार छीन लिए गए और इस प्रकार उनके जीवन को पहले की अपेक्षा अधिक अभावपूर्ण और असुरक्षित बना दिया गया। जब आदिवासियों से वनों की उपज और खेती के लिए जमीन छिन गई तब वे या तो वनों का अवैध रूप से इस्तेमाल करने को मजबूर हो गए (जिसके लिए उन्हें 'घुसपैठिए' और चोर-उचक्के कहकर तंग और दंडित किया जाने लगा) या फिर दिहाड़ी मजदूरी की तलाश में वन छोड़कर अन्यत्र चले गए।

### स्वतंत्रता के बाद आदिवासी संघर्ष- विरासत बनाम विस्थापन

1947 में भारत स्वतंत्र हो जाने के बाद, आदिवासियों की जिंदगी आसान हो जानी चाहिए थी, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इसका एक कारण तो यह था कि वनों पर सरकार का एकाधिकार जारी रहा। यहाँ तक कि वनों के संदोहन (कटाई आदि) में और तेजी आ गई। दूसरे, भारत सरकार द्वारा अपनाई गई पूँजी-प्रधान औद्योगीकरण की नीति को कार्यान्वित करने के लिए खनिज संसाधनों और विद्युत उत्पादन की क्षमताओं की आवश्यकता थी और ये क्षमताएँ और संसाधन मुख्य रूप से आदिवासी क्षेत्रों में ही स्थित थे। नयी खनन और बाँध परियोजनाओं के लिए जल्दी से आदिवासी भूमियाँ अधिगृहीत कर ली गईं। इस प्रक्रिया में, लाखों आदिवासियों को, पर्याप्त मुआवजे और समुचित पुनर्वास की व्यवस्था किए बिना विस्थापित कर दिया गया। 'राष्ट्रीय विकास' और 'आर्थिक संवृद्धि' के नाम पर इस कार्य को न्यायोचित ठहराया गया; इस प्रकार इन नीतियों का पालन वास्तव में, एक तरह का आंतरिक उपनिवेशवाद ही था जिसके अंतर्गत आदिवासियों को अधीन करके उनके संसाधनों को, जिन पर वे निर्भर थे, छीन लिया गया। पश्चिमी भारत में नर्मदा नदी पर सरदार सरोवर बाँध और आंध्र प्रदेश में गोदावरी नदी पर पोलावरम बाँध बनाने की परियोजनाओं से लाखों आदिवासी विस्थापित हो जाएँगे, जो उन्हें पहले से अधिक अभावग्रस्त बना देगा। ये प्रक्रियाएँ लंबे अरसे से चलती रही हैं और 1990 के दशक से तो और भी अधिक प्रबल हो गई हैं, जबसे भारत सरकार द्वारा आर्थिक उदारीकरण की नीतियाँ आधिकारिक रूप से अपनाई गई हैं। अब निगमित फर्मों के लिए आदिवासियों को विस्थापित करके बड़े-बड़े इलाके अधिगृहीत करना अधिक आसान हो गया है।

**'दलित' शब्द की तरह, 'आदिवासी' शब्द भी राजनीतिक जागरूकता और अधिकारों की लड़ाई का सूचक बन गया है।** इसका शब्दिक अर्थ है: 'मूल निवासी' और इस शब्द को औपनिवेशिक सरकार और बाहरी वाशिंदों तथा 'साहूकारों' (ऋणदाताओं) द्वारा की जा रही घुसपैठ के विरुद्ध संघर्ष के अंतर्गत 1930 के दशक में गढ़ा गया था। आदिवासी होने का मतलब स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय से 'विकास परियोजनाओं' के नाम पर आदिवासियों से वनों का छिन जाना, भूमि का अपहरण, बार-बार विस्थापन एवं अन्य कई और परेशानियों का सम्मिलित अनुभव है।



इन भारी विडंबनाओं और उपेक्षाओं के बावजूद, अनेक जनजातीय समूह बाहरी लोगों (जिन्हें 'दिकू' कहा जाता है) और सरकार के विरुद्ध संघर्ष करते रहते हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत में, आदिवासी आंदोलनों की सर्वाधिक उल्लेखनीय उपलब्धियों में से एक है, झारखंड और छत्तीसगढ़ के लिए अलग राज्य का दर्जा प्राप्त करना। ये दोनों राज्य मूल रूप से क्रमशः बिहार और मध्य प्रदेश राज्यों के हिस्से थे। इस दृष्टि से, आदिवासी और उनके संघर्ष दलित संघर्ष से भिन्न है, क्योंकि दलितों के विपरीत, आदिवासी संलग्न इलाकों में संकेंद्रित थे, इसलिए वे अपने लिए अलग राज्य की माँग कर सके।

### 3. बाजार और समाज

#### बाजार क्या है

बाजार सामाजिक संस्थाएँ हैं जो विशेष सांस्कृतिक तरीकों द्वारा निर्मित हैं। उदाहरण के लिए, बाजारों का नियंत्रण या संगठन अक्सर विशेष सामाजिक समूह या वर्गों द्वारा होता है और इसकी अन्य संस्थाओं, सामाजिक प्रक्रियाओं और संरचनाओं से भी विशेष संबद्धता होती है। **अर्थव्यवस्थाएँ समाज में 'रची-बसी' हैं।** भारत में आज एक ग्रामीण हाट से लेकर अप्रत्यक्ष स्टॉक एक्सचेंज जैसे विभिन्न प्रकार के बाजार हैं। ये बाजार खुद भी सामाजिक संस्था हैं और ये बाकी सामाजिक संस्थाओं जैसे, परिवार, जाति, वर्ग से विभिन्न तरीकों से जुड़े हुए हैं। अर्थात् विनिमय के सिर्फ आर्थिक मायने ही नहीं होते उसके सांकेतिक और सांस्कृतिक पहलू भी होते हैं। खासकर के जब उदारवादिता के दिनों में जब सामानों और सेवाओं का तेजी से संचालन हो रहा है।

#### बाजार के लक्षण: उदारवाद

##### हॉट बाजार या साप्ताहिक बाजार

दुनिया भर के अधिकांश कृषक या 'खेतिहर' समाजों में आवधिक बाजार या हाट, सामाजिक और आर्थिक संगठन व्यवस्था की एक केंद्रीय विशेषता होते हैं। साप्ताहिक बाजार आस-पास के गाँवों के लोगों को एकत्रित करता है जो अपनी खेती की उपज या किसी और उत्पाद को बेचने आते हैं और वे बनी-बनाई वस्तुएँ एवं अन्य सामान खरीदने आते हैं जो उनके गाँवों में नहीं मिलते। इन बाजारों में स्थानीय क्षेत्र से बाहर के लोगों के साथ-साथ साहुकार, मसखरे, ज्योतिषी एवं तमाम तरह के विशेषज्ञ अपनी सेवाएँ एवं वस्तुओं के साथ आते हैं। ग्रामीण भारत में एक कम तय अंतराल पर विशेष बाजार भी लगते हैं, जिसका एक आवधिक उदाहरण है पशु बाजार। यह आवधिक बाजार विभिन्न स्थानीय और क्षेत्रीय अर्थव्यवस्थाओं को जोड़ते हैं एवं उन्हें बृहत राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं और कस्बों एवं महानगरीय केंद्रों से जोड़ते हैं।

साप्ताहिक हाट, ग्रामीण एवं नगरीय भारत में भी एक आम नजारा होता है। पहाड़ी और जंगली इलाकों में (खास तौर पर, जहाँ आदिवासी बसे होते हैं) जहाँ अधिवास दूर-दराज तक होता है, सड़कें और संचार भी जीर्ण-शीर्ण होता है एवं अर्थव्यवस्था भी अपेक्षाकृत अविकसित होती है ऐसे में साप्ताहिक बाजार उत्पादों के आदान-प्रदान के साथ-साथ सामाजिक मेल-मिलाप की एक प्रमुख संस्था बन जाता है। स्थानीय लोग बाजार में अपनी खेती की उपज या जंगल से लाए गए पदार्थों को व्यापारियों को बेचते हैं जो कस्बों में इन्हें ले जाकर दुबारा बेचते हैं और इन पैसों से आवश्यक वस्तुएँ जैसे नमक एवं खेती के औजार और उपभोग की वस्तुएँ जैसे, चूड़ियाँ और गहने खरीदते हैं। पर अधिकांश लोगों के लिए हाट जाने का प्रमुख कारण सामाजिक है जहाँ वह अपने रिश्तेदारों से भेंट कर सकता है, घर के जवान लड़के-लड़कियों का विवाह तय कर सकता है, गप्पे मार सकता है और कई अन्य कार्य कर सकता है।



## पारम्परिक बाजारों का बदलता स्वरूप

जहाँ जनजातीय क्षेत्रों में साप्ताहिक बाजार एक बहुत पुरानी संस्था है वहीं समय के साथ इनके स्वरूप में परिवर्तन भी हुआ है। इन दूरस्थ क्षेत्रों के उपनिवेशिक राज्यों के नियंत्रण में आने के बाद इन्हें धीरे-धीरे क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं से जोड़ दिया गया। जनजातीय क्षेत्रों को सड़कों के निर्माण द्वारा और स्थानीय लोगों को 'समझा-बुझा' के (जिसमें से बहुत से लोगों ने 'जनजातीय विद्रोहों' द्वारा उपनिवेशिक शासन का विरोध किया था) 'खोला गया' ताकि इन इलाकों के समृद्ध जंगलों और खनिजों तक बेरोक-टोक पहुँचा जा सके। ऐसा होने से इन क्षेत्रों में व्यापारी, साहुकार और आस-पास के मैदानी इलाकों से अन्य गैर जनजातीय लोगों का भी ताँता लग गया। इस प्रकार जनजातीय अर्थव्यवस्था में बदलाव आ गया क्योंकि अब जंगल के उत्पादों को बाहरी लोगों को बेचा जाने लगा और नयी तरह की वस्तुएँ व्यवस्था में शामिल हो गईं। आदिवासियों को अब उन खदानों और बागानों में भी मजदूर के तौर पर रखा जाने लगा जो अंग्रेजी सरकार के दौर में स्थापित हुए थे। उपनिवेशिक दौर के दौरान जनजातीय श्रम के एक 'बाजार' का विकास हुआ। इन तमाम बदलावों की वजह से स्थानीय जनजातीय अर्थव्यवस्थाएँ बड़े बाजारों से जुड़ गईं पर इसका असर स्थानीय लोगों के लिए सामान्यतः बेहद नकारात्मक था। उदाहरण के लिए, बाहर से स्थानीय क्षेत्रों में साहूकारों और व्यापारियों के आवागमन ने आदिवासियों को दरिद्र कर दिया, उनमें से अधिकांश ने अपनी जमीन बाहरी लोगों के हाथ खो दी।

## भारत में जाति आधारित बाजार एवं व्यापारिक तंत्र

भारत के बहुत से गाँवों और इलाकों में विभिन्न प्रकार की गैर-बाजारी विनिमय व्यवस्था (जैसे, 'जजमानी व्यवस्था') तो मौजूद थी बड़ी उपनिवेशिकता से पहले के दौर में भी गाँव विनिमय के बड़े तंत्र का हिस्सा थे जिससे कृषि उत्पाद और तरह-तरह की अन्य वस्तुओं का व्यापारिक प्रचलन होता था। उपनिवेश के पहले भी भारत में विस्तृत और परिष्कृत व्यापारिक तंत्र विद्यमान थे। यह तो हम सब जानते हैं कि पिछली कितनी ही शताब्दियों से भारत हस्तकरघा के कपड़ों का मुख्य निर्माता और (सूती कपड़े और महँगे रेशम दोनों) निर्यातक होने के साथ-साथ अनेक अन्य वस्तुओं (जैसे, मसालों) जिनकी वैश्विक बाजार में, मुख्यतः यूरोप में भारी माँग थी, का स्रोत था। तो यह कतई आश्चर्य की बात नहीं है कि उपनिवेश के पहले के दिनों में भारत में उन्नत अवस्था के उत्पादन केंद्रों के साथ-साथ देशज व्यापारियों का संगठित समाज, व्यापारिक तंत्र और बैंकिंग व्यवस्था भी शामिल थी जिससे भारत, आंतरिक स्तर पर और बाकी दुनिया से व्यापार करने में सक्षम था। इन पारंपरिक व्यापारिक समुदाय या जातियों की अपनी कर्ज और बैंक की व्यवस्थाएँ थीं। उदाहरण के लिए, विनिमय और कर्ज का एक महत्वपूर्ण साधन-हुंडी या विनिमय का बिल (जो कि एक कर्ज पत्र की तरह थी) थी इसे व्यापारी लंबी दूरी के व्यापार में इस्तेमाल करते थे। चूँकि व्यापार प्राथमिकता में इन समुदायों की जाति एवं नातेदारी क्षेत्रों में ही होता था इसलिए देश में किसी एक कोने से एक व्यापारी द्वारा जारी हुई हुंडी दूसरे कोने में व्यापारी द्वारा स्वीकार की जाती थी।

तमिलनाडु के नाटूकोटाई चेट्टीयारों (या नाकरट्टर) इसका एक जीवंत उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि यह देशज व्यापारिक तंत्र किस तरह संगठित थे और कैसे कार्य करते थे। इनकी बैंकिंग और व्यापारिक गतिविधियाँ समुदाय के सामाजिक संगठनों से जुड़ी हुई थीं। जाति, नातेदारी और परिवार की संरचना सब व्यापार के अनुकूल थी और व्यापार इन्हीं सामाजिक संरचनाओं के भीतर होता था। जैसाकि अधिकांश 'पारंपरिक' व्यापारिक समुदायों में होता है, नाकरट्टरों के बैंक भी उनके संयुक्त पारिवारिक संस्थान थे ताकि व्यापारिक संस्थान की संरचना भी परिवार के समान रहे। इसी प्रकार व्यापारिक और बैंकिंग गतिविधियाँ भी जाति और नातेदारी संबंधों के माध्यम से संगठित थीं।

वास्तव में, 'वैश्य' चार वर्णों में से एक हैं, यह तथ्य भारतीय समाज में प्राचीनकाल से व्यापार और व्यापारी के महत्त्व को दर्शाता है। भारत में 'पारंपरिक व्यापारिक समुदायों' में सिर्फ 'वैश्य' ही नहीं बल्कि और समूह भी अपनी भिन्न धार्मिक या अन्य सामुदायिक पहचानों के साथ शामिल हैं जैसे पारसी, सिंधी, बोहरा या जैन।

## बाजार का विस्तार

### वस्तुकरण या पण्यीकरण और उपभोग

**पण्यीकरण (Commoditisation)**— एक वस्तु जिसे हम खरीद या बेच सकते हैं इसी को पण्यीकरण कहते हैं। पण्यीकरण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई भी चीज जो बाजार में नहीं बिकती हो वह बाजार में बिकने वाली एक वस्तु बन जाती है। और बाजार अर्थव्यवस्था का एक भाग बन जाती है।

मार्क्स और पूँजीवाद के अन्य आलोचकों के अनुसार, पण्यीकरण की प्रक्रिया के नकारात्मक सामाजिक प्रभाव हैं। श्रम का पण्यीकरण एक उदाहरण है लेकिन समकालीन समाज में ऐसे और भी उदाहरण हैं। मसलन, आजकल एक विवादास्पद वाक्या है गरीब लोगों द्वारा अपनी किडनी को अमीर लोगों को बेचना जिन्हें किडनी के प्रतिस्थापन की आवश्यकता है। बहुत से लोगों का मानना है कि मानव अंगों का पण्यीकरण नहीं होना चाहिए। पहले के समय में इंसानों को गुलाम के तौर पर बेचा और खरीदा जाता था, पर आज के दौर में लोगों को वस्तुओं की तरह समझना अनैतिक माना जाता है। पर आधुनिक समाज में लगभग हर कोई मानता है कि इंसान का श्रम खरीदा जा सकता है या पैसों के बदले में अन्य सेवाओं या कौशल उपलब्ध कराया जा सकता है। मार्क्स के अनुसार, यह वह स्थिति है जो सिर्फ पूँजीवादी समाजों में ही पाई जाती है।

समकालीन भारत में हम देख सकते हैं कि कुछ चीजें या प्रक्रियाएँ जो पहले बाजार का हिस्सा नहीं थीं अब वह बाजार में मिलने वाली वस्तुएँ हो गई हैं। जैसे, पारंपरिक रूप से पहले विवाह परिवार के लोगों द्वारा तय किए जाते थे पर अब व्यावसायिक विवाह ब्यूरो की भरमार है जो वेबसाइट्स या किसी और माध्यम से लोगों का विवाह तय कराते हैं और इसका मेहनताना लेते हैं। दूसरा उदाहरण है, अनेक निजी संस्थान जो 'व्यक्तित्व सँवारने', अंग्रेजी बोलना-सिखाना और अन्य चीजों के लिए पाठ्यक्रमों को चलाते हैं जो कि विद्यार्थियों को (अधिकांश मध्यमवर्गीय नौजवानों) समकालीन विश्व में सफल होने के लिए आवश्यक सांस्कृतिक और सामाजिक कौशल को सिखाते हैं। पहले के समय में, सामाजिक कौशल और शिष्टाचार जैसे, अच्छा आचरण प्रमुख रूप से परिवार में ही सिखाया जाता था। हम इस बारे में ऐसे भी सोच सकते हैं कि आजकल जो निजी संस्थाओं में होड़ लगी है—नए विद्यालय, महाविद्यालय और कोचिंग क्लासेस को चलाने के लिए वो भी इस बात को दर्शाती है कि किस तरह से शिक्षा का पण्यीकरण हो रहा है।

पण्यीकरण बड़ा शब्द है, जो सुनने में जटिल लगता है। पर जिन प्रक्रियाओं की तरफ वो इशारा करता है उनसे हम परिचित हैं और वे हमारे दैनिक जीवन का हिस्सा है। एक साधारण उदाहरण है: बोतल का पानी।

शहर या कस्बे में, यहाँ तक की अधिकांश गाँवों में भी बोतल का पानी खरीदना अब संभव है 2, 1 लीटर या उससे छोटे पैमाने में वो हर एक जगह बेची जाती है। अनेक कंपनियाँ हैं और अनेक ब्रांड के नाम हैं जिससे पानी की बोतलें पहचानी जाती हैं। पर यह एक नयी प्रघटना है जो दस-पन्द्रह साल से ज्यादा पुरानी नहीं है।

पूँजीवादी समाज की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है कि उपभोग अधिक से अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है और इसके सिर्फ आर्थिक कारण नहीं हैं बल्कि इसका एक प्रतीकात्मक अर्थ है। आधुनिक समाजों में उपभोग एक महत्वपूर्ण तरीका है जिसके द्वारा सामाजिक भिन्नता का निर्माण होता है और उन्हें प्रदर्शित किया जाता है। उपभोक्ता अपनी सामाजिक, आर्थिक स्थिति या सांस्कृतिक प्राथमिकताओं को कुछ विशेष वस्तुओं को खरीदकर या उनका प्रदर्शन कर प्रदर्शित करता है और कंपनियाँ उन बातों पर गौर करती हैं और वो अपने सामान, प्रस्थिति या संस्कृति के प्रतीकों के आधार पर बनाती एवं बेचती हैं।

## 4. परिवार और नातेदारी (बंधुता)

हममें से हर कोई एक परिवार में उत्पन्न हुआ है और हममें से अधिकांश लोग परिवार में अनेक वर्ष बिताते हैं। आमतौर पर हम अपने परिवार से गहरा लगाव महसूस करते हैं। कभी-कभी हम अपने माता-पिता, दादा-दादी, नाना-नानी, सहोदर भाई-बहनों, चाचा-चाचियों, मामा-मामियों तथा चचेरे-ममेरे भाइयों-बहनों के बारे में बहुत अच्छा महसूस करते हैं, जबकि दूसरों के बारे में हम ऐसा महसूस नहीं करते। एक ओर तो हम उनके हस्तक्षेप के लिए अप्रसन्नता या रोष प्रकट करते हैं, फिर भी जब हम उनसे दूर रहते हैं तो उनके रोबदाबपूर्ण तरीकों के लिए तरसते हैं और उन्हें याद करते हैं। परिवार गहरे स्नेह एवं देखभाल का स्थान है। दूसरी ओर, यह कटु संघर्ष, अन्याय और हिंसा का स्थान भी हो सकता है। परिवार और नातेदारी में मादा शिशु की हत्या, संपत्ति के लिए भाइयों के बीच हिंसापूर्ण लड़ाई-झगड़े और धिनौने कानूनी विवाद भी इसका वैसे ही एक हिस्सा होते हैं जैसे प्यार, त्याग एवं बलिदान, पारस्परिक सुरक्षा एवं देखभाल।



परिवार की संरचना का अध्ययन इसके एक सामाजिक संस्था के रूप में और समाज की अन्य सामाजिक संस्थाओं के साथ उसके संबंधों के बारे में, दोनों ही रूप में किया जा सकता है। स्वयं परिवार को मूल परिवार अथवा विस्तृत परिवार के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इसका मुखिया (कर्ता) एक पुरुष या स्त्री भी हो सकती है। वंशानुक्रम की दृष्टि से परिवार मातृवंशीय अथवा पितृवंशीय हो सकता है। परिवार की यह आंतरिक संरचना आमतौर पर, समाज की अन्य संरचनाओं जैसे राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि संरचनाओं से जुड़ी होती है। इस प्रकार, हिमालयी क्षेत्र के गाँवों से पुरुषों के प्रवासन से उस गाँव में ऐसे परिवारों का अनुपात असामान्य से बढ़ सकता है जिनकी मुखिया स्त्रियाँ हैं। या भारत के सॉफ्टवेयर उद्योग में कार्य कर रहे युवा माता-पिता का कार्य-समय ऐसा हो कि वे अपने बच्चों की देखभाल ठीक से न कर सकें तो वहाँ दादा-दादियों तथा नाना-नानियों की संख्या बढ़ जाएगी क्योंकि उन्हें ही वहाँ आकर बच्चों की देखभाल करनी होगी। इस प्रकार, परिवार की संरचना अथवा उसके गठन में परिवर्तन हो जाता है। और इन परिवर्तनों को समाज में होने वाले अन्य परिवर्तनों के संदर्भ में समझा जा सकता है। परिवार (निजी क्षेत्र) आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक (सार्वजनिक) क्षेत्रों से जुड़ा होता है।

परिवार हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग है। हमारे लिए इसका अस्तित्व स्वतः स्वीकृत है। हम यह भी मानकर चलते हैं कि अन्य लोगों के परिवार भी हमारे परिवार की तरह ही होंगे। तथापि परिवारों की संरचनाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं और यह बदलती भी रहती हैं। यह परिवर्तन कभी-कभी तो आकस्मिक तौर पर होते रहते हैं जब कोई लड़ाई छिड़ जाती है अथवा लोग काम की तलाश में अन्यत्र जा बसते हैं। कभी-कभी यह परिवर्तन किसी विशेष प्रयोजन के लिए किए जाते हैं, जैसे कि जब युवा लोग बुजुर्गों द्वारा उनके लिए जीवन-साथी का चुनाव करने के बजाय स्वयं ही अपने जीवन-साथी का चुनाव कर लेते हैं। अथवा जब समाज में समलैंगिक प्यार का खुले तौर पर इजहार किया जाता है।

उपर्युक्त प्रकार के परिवर्तनों से यह स्पष्ट है कि परिवार की संरचनाओं में ही बदलाव नहीं आता बल्कि सांस्कृतिक विचार, मानकों और मूल्यों में भी परिवर्तन होते हैं। किंतु, इस प्रकार के परिवर्तन लाना आसान नहीं होता। इतिहास और आधुनिक काल की घटनाओं से पता चलता है कि अक्सर पारिवारिक और वैवाहिक प्रतिमानों में किए जाने वाले परिवर्तनों का घोर हिंसात्मक विरोध किया जाता है। इस संबंध में परिवार के भी कई आयाम होते हैं। किंतु भारत में, परिवार विषयक चर्चाएँ अक्सर मूल और विस्तृत परिवार के इर्द-गिर्द घूमती रहती हैं।

### मूल एवं विस्तारित परिवार

मूल परिवार में माता-पिता (एक दंपति) और उनके बच्चे ही शामिल होते हैं। विस्तृत परिवार (जिसे आमतौर पर 'संयुक्त परिवार' कहा जाता है) के भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं, लेकिन उनमें एक से अधिक युगल (दंपति) होते हैं और अक्सर दो से अधिक पीढ़ियों के लोग एकसाथ रहते हैं। इसमें कई भाई भी हो सकते हैं जो अपने-अपने परिवारों को लेकर संयुक्त परिवार के सदस्य के रूप में रहते हैं या एक बुजुर्ग दंपति जो अपने बेटों, पोतों, उनके परिवारों के साथ रहते हों। विस्तृत परिवार अक्सर भारतीय होने का सूचक माना जाता है। लेकिन अब, बल्कि पहले भी यह किसी भी अर्थ में परिवार का प्रमुख रूप नहीं रहा है। यह समुदाय के कुछ अनुभागों या कतिपय क्षेत्रों तक ही सीमित था।



## परिवार के विविध रूप

अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि विभिन्न समाजों में किस तरह विविध प्रकार के परिवार पाए जाते हैं। आवास के नियम के अनुसार कुछ समाज विवाह और पारिवारिक प्रथाओं के मामले में पत्नी-स्थानिक और कुछ पति-स्थानिक होते हैं। पहली स्थिति में नवविवाहित जोड़ा वधु के माता-पिता के साथ रहता है और दूसरी स्थिति में, वर के माता-पिता के साथ। उत्तराधिकार के नियम के अनुसार, मातृवंशीय समाज में जायदाद माँ से बेटी को मिलती है और पितृवंशीय समाज में पिता से पुत्र को। पितृवंशात्मक परिवार संरचना में पुरुषों की सना व प्रभुत्व होता है और मातृवंशात्मक परिवार संरचना में स्त्रियाँ समान प्रभुत्वकारी भूमिका निभाती हैं। हालाँकि पितृवंश के विपरीत मातृवंश एक अनुभाविक संकल्पना की बजाय एक सैद्धांतिक कल्पना है। मातृवंश का कोई ऐतिहासिक या मानवशास्त्रीय प्रमाण नहीं है अर्थात् ऐसा समाज नहीं है जहाँ स्त्रियाँ प्रभुत्वशाली हों। हालाँकि मातृवंशीय समाज अवश्य पाए जाते हैं अर्थात् समाज जहाँ स्त्रियाँ अपनी माताओं से उत्तराधिकार के रूप में जायदाद पाती हैं परंतु उस पर उनका अधिकार नहीं होता और न ही सार्वजनिक क्षेत्र में उन्हें निर्णय लेने का कोई अधिकार होता है।

## 5. राज्य और नागरिक समाज

### समकालीन भारतीय समाज में नागरिक समाज (सिविल सोसायटी) संगठनों की प्रसंगिकता

यद्यपि राज्य राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने का दावा करता है, पर यह राष्ट्र और उसके लोगों से हटकर अपनी स्वतंत्र स्थिति भी बना सकता है। इस हद तक कि राज्य संरचना विधानमंडल, अधिकारीतंत्र (दफ्तरशाही), न्यायपालिका, सशस्त्र सेनाएँ, पुलिस और राज्य के अन्य स्क्वेंड, लोगों से पृथक् हो जाते हैं, यह सत्तावादी बनने की संभावना भी रखता है। एक सनावादी राज्य लोकतंत्रात्मक राज्य का विपरीत होता है। एक सत्तावादी राज्य में लोगों की आवाज नहीं सुनी जाती और जिनके पास शक्ति होती है वे किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। सत्तावादी राज्य अक्सर भाषण की स्वतंत्रता, प्रेस की स्वतंत्रता, राजनीतिक क्रियाकलाप की स्वतंत्रता, सत्ता के दुरुपयोग से संरक्षण का अधिकार, विधि (कानून) की अपेक्षित प्रक्रियाओं का अधिकार जैसी अनेक प्रकार की नागरिक स्वतंत्रताओं को अक्सर सीमित या समाप्त कर देते हैं। **सत्तावाद** के अलावा, इस बात की संभावना भी रहती है कि राज्य की संस्थाएँ भ्रष्टाचार, अकुशलता अथवा संसाधनों की कमी के कारण, लोगों की जरूरतों के बारे में सुनवाई करने के लिए अक्षम अथवा अनिच्छुक हो जाएँ। संक्षेप में, ऐसे अनेक कारण हैं जिनकी वजह से राज्य वैसा नहीं होगा जैसा उसे होना चाहिए। इस संदर्भ में गैर-राजकीय कर्ता अथवा संस्थाएँ महत्वपूर्ण हो जाते हैं, क्योंकि वे राज्य पर नजर रख सकते हैं, उसके अन्यायपूर्ण कार्यों का विरोध कर सकते हैं अथवा उसके प्रयत्नों में सहयोग कर सकते हैं।

शांति और मानव विकास लाने में नागरिक समाजों की बहुत बड़ी सकारात्मक भूमिका को भी स्वीकार की गई है। नागरिक समाजों को विकसित देशों द्वारा प्रतिरक्षा खर्चों में कटौती, सशस्त्र बलों के अपरियोजन, प्रतिरक्षा से आधारभूत वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन की और संक्रमण और विशेष रूप से निशस्त्रीकरण तथा नाभिकीय युद्धास्त्रों की संख्या घटाने के लिए जनमत तैयार करने की दिशा में कार्य करना चाहिए। एक नाभिकीय कृत विश्व में शांति और कल्याण दो प्रमुख चिंताएँ हैं।

नागरिक समाज उस व्यापक कार्यक्षेत्र को कहते हैं जो परिवार के निजी क्षेत्र से परे होता है, लेकिन राज्य और बाजार दोनों क्षेत्र से बाहर होता है। नागरिक समाज सार्वजनिक अधिकार का गैर-राजकीय तथा गैर-बाजारी भाग होता है जिसमें अलग-अलग व्यक्ति संस्थाओं और संगठनों का निर्माण करने के लिए स्वेच्छा से परस्पर आ जुड़ते हैं। यह सक्रिय नागरिकता का क्षेत्र है यहाँ व्यक्ति मिलकर सामाजिक मुद्दों पर चर्चा करते हैं, राज्य को प्रभावित करने की कोशिश करते हैं अथवा उसके समक्ष अपनी माँगें रखते हैं, अपने सामूहिक हितों को पूरा करने का प्रयास करते हैं या विभिन्न कार्यों के लिए समर्थन चाहते हैं। इस क्षेत्र में नागरिकों के समूहों द्वारा बनाए गए स्वैच्छिक संघ, संगठन या संस्थाएँ शामिल होते हैं। इसमें राजनीतिक दल, जनसंचार की संस्थाएँ, मजदूर संघ, गैर-सरकारी संगठन, धार्मिक संगठन और अन्य प्रकार के सामूहिक तत्व भी शामिल होते हैं। नागरिक समाज में शामिल होने की मुख्य कसौटियाँ यह हैं कि संगठन राज्य नियंत्रित नहीं होना चाहिए और यह विशुद्ध रूप से वाणिज्यिक मुनाफ़ा कमाने वाले तन्त्र न हों। इस प्रकार, दूरदर्शन नागरिक समाज का हिस्सा नहीं है, जबकि निजी टेलीविजन चैनल हैं, एक कार निर्माता कंपनी नागरिक समाज का हिस्सा नहीं है लेकिन उसके कामगारों के मजदूर संघ इसके अंतर्गत आते हैं। वास्तव में यह कसौटियाँ बहुत से क्षेत्रों को स्पष्ट नहीं कर पातीं। उदाहरण के लिए, एक समाचारपत्र विशुद्ध रूप से एक वाणिज्यिक उद्यम के रूप में चलाया जा सकता है अथवा एक गैर-सरकारी संगठन को सरकारी निधियों से सहायता दी जा सकती है।